Chapter-2

अध्याय : 2

नगरीय परिवेश के उपन्यासों का विषय-वस्तु

अध्याय : 2

नगरीय परिवेश के उपन्यासोंका विषयवस्तु

पहले कहा जा चुका है कि उपन्यास एक यथार्थवादी विधा है, अत: उसमें जीवनके प्राण प्रश्नों, समस्याओं, विसंगतियो आदिका निरूपण अवश्यमेव होता है । उपन्यास किसी भी प्रकार हो, उसका परिवेश चाहे ग्रामीण हो या नगरीय, किन्तु उसमें कोई न कोई समस्या अवश्य उपलब्ध होती है । यह समस्या ही उपन्यासका सूत्र या थीम (theme) बनती है । औद्योगिक क्रांतिसे उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्थाने समाज के ढाँचे में एक आमूलचूल परिवर्तन किया, जिससे अनेकानेक नवीन स्थितियाँ सामने आयी । इन नवीन सामाजिक स्थितियों ने नवीन समस्याओं को जन्म दिया । उदाहरणस्वरूप नारी-शिक्षाको ही लीजिए । नारी-शिक्षा ने जहाँ एक ओर उसे अधिक आत्म-निर्भर एवं स्वाभिमानी बनाकर उसके गौरव को बढ़ाया वहाँ दूसरी ओर इसी नारी-शिक्षा के कारण स्त्री-पुरुष के अहं की टकराहट भी शुरु हुई जिसके फलस्वरूप अनेक दम्पतियोंके जीवन में दरारें पडनी शुरु हुई । शकुन (आपका बण्टी),नीलिमा "अन्धेरे बन्द कमरे), रायना (वे दिन) आदि इसके उदाहरण है । घरकी चार दीवारी को छोड़कर स्त्रीने जब बाहरी क्षेत्रोंमें प्रवेश किया तो स्त्री-पुरुष के यौन-जीवन में भी अनेक परिवर्तन आये । अनेक पुराने मूल्य चरमराकर टूट गये । इस परिस्थितिने स्त्री-शोषण के एक नये कोण को भी जन्म दिया । व्यावसायिक प्रतिष्ठानों एवं सरकारी कार्यालयों में मध्यवर्गीय स्त्री की

आर्थिक विवशता को लक्षित करते हुए उसके नैतिक शोषण का प्रारंभ हुआ। "डाक बंगला" (कमलेश्वर) की "इरा", "मुक्ति बोध" (जैनेन्द्र) की "नीलिमा", "प्रश्न और मरीचिका" (भगवतीचरण वर्मा) "रोजी", "छाया मत छूना मन" (हिमांशु जोशी) की "वसुधा" आदि इसके उदाहरण हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था में परिवार की तमाम जिम्मेदारियाँ लड़के को वहन करनी पड़ती थीं। लड़का न हो या छोटा हो तो पिता, चाचा या परिवार का कोई भी पुरुष - सदस्य यह भार वहन करता था, किन्तु आजकी नवीन सामाजिक-व्यवस्था में संयुक्त परिवार टूट गये हैं, अत: कई बार परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी पढ़ी-लिखी बड़ी लड़की पर आ जाती है। फलस्वरूप न चाहते हुए भी कई बार वह इस कुँआरे वैधव्य को भोगने के लिए विवश होती है। "पचपन खंभे लाल दीवारें" की सुषमा तथा "टेराकोटा" की "मिति" इसके उदाहरण है। तात्पर्य यह कि नवीन सामाजिक स्थितियाँ नवीन समस्याओं को जन्म देती हैं और यह नवीन समस्याएँ पुन: नवीन सामाजिक स्थितियोंको जन्म देती हैं। यों यह चक्र अविरत गतिमान रहता है।

नगरीय परिवेश :

भौगोलिक दृष्टि से उपन्यासों का परिवेश अर्थात देशकाल ग्रामीण, वन्य, पहाडी या नगरीय हो सकता है। पहले कहा जा चुका है कि उपन्यास एक यथार्थधर्मी विधा है, और उसकी इस यथार्थ धर्मिता के मूल में परिवेश या देशकाल का चित्रण होता है। यथार्थ परिवेश ही उपन्यास में वास्तविक पार्श्वभूमिको निर्मित कर उसकी विश्वसनीयता (Probability)

को बढ़ा देता है । उपन्यास के चरित्र इतने वास्तविक व जीवंत हों कि हम उन्हें जी सकें एवं परिवेश ऐसा हो कि उसमें हम चल-फिर सकें । वे उपन्यास जो नगर एवं नगरीय पात्रोंको केन्द्रस्थ रखकर लिखे गये हैं, उन्हें नगरीय परिवेश से युक्त उपन्यास कहे जायेंगे । यद्यपि मानव-जीवन की मूल समस्याएँ तो सर्वत्र एक-सी रहती हैं, तथापि उनका स्वरूप परिवेशजन्य स्थितियों की दृष्टि से बदलता रहता है । इस दृष्टि से नगरीय परिवेश के उपन्यासों की समस्याएँ ग्रामभित्तीय उपन्यासोंकी समस्याओं से कुछ भिन्नता रखती हैं । उदाहरणार्थ गाँव में किसी गरीब के यहाँ अतिथियोंका आगमन हो तो प्रश्न केवल उन्हें खिलाने-पिलाने तक ही सीमित रहता है, किन्तु शहरमें जहाँ गरीब आदमी एक कमरे में या किसी झोंपड़ी में रहता है वहाँ समस्या अतिथियों को ठहराने-सुलाने की भी होती है । गुजराती की एक कहावत है -- "शहेरमां रोटलो मले पण ओटलो न मले", अर्थात् शहरमें एक बार खानेको मिल सकता है, पर रहनेकी समस्या बड़ी विकट है । गाँव में अतिथि के आगमन से उत्पन्न असुविधा के कारण यदि किसी व्यक्तिको आराम नहीं मिलता तो वह उसकी पूर्ति दूसरे दिन कर लेगा, किन्तु शहरमें रोज कमाने-खानेवालोंके लिए यह संभव नहीं होगा । ऐसी स्थिति में "अतिथि देवो भव" "अतिथि असुरोभव" हो जाय तो क्या आश्चर्य ? तात्पर्य यह कि गाँव और नगर की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं ।

उपन्यास में समस्या-निरूपण की परम्परा

पूर्ववर्ती विवेचन में निर्दिष्ट हो चुका है कि उपन्यास चूँकि यथार्थवादी विधा है, मानव-जीवन की समस्याओंसे उसका अभिन्न सम्बन्ध है । प्रस्तुत

अध्ययनमें सन् 1960 से सन् 1980 तक के नगरीय उपन्यासोंमें निरूपित मानव-जीवनकी समस्याओंका अध्ययन प्रस्तुत है, अत: यहाँ प्रारंभ से लेकर सन् 1960 तक के उपन्यासों में मानव-जीवन की समस्याओं का निरूपण करनेका उपक्रम है । यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दीका प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" (पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी) आधुनिक युगकी सबसे ज्वलंत समस्या - नारी - शिक्षाकी समस्या - को लेकर लिखा गया है । आधुनिक कविताका उत्कर्ष या उसका एक उच्च शिखर हमें छायावादी काव्य में उपलब्ध होता है, उसी प्रकार कथा - साहित्यका उत्कर्ष हमें प्रेमचन्द-युग में उपलब्ध होता है ।. यह तो सर्व विदित है कि प्रेमचन्द पूर्वका उपन्यास साहित्य अपरिपक्व, एकांगी, घटनाप्रधान, मनोरंजन प्रधान या सुधारवादी है । उसमें किसी निश्चित जीवन-दृष्टिका अभाव मिलता है । उस समय के उपन्यासों में या तो आर्य समाजी प्रचार या सनातनधर्मी कट्टरता मिलती है । आर्यसमाजी-विचारों से प्रभावित उपन्यासों में तत्कालीन रूढियाँ के प्रचार के - कारण कहीं तथ्यों को विकृत भी किया गया है । इन उपन्यासोंका ऐतिहासिक महत्व तो है, किन्तु ये उपन्यास आधुनिक सोच व चिंतन को आगे नहीं बढ़ाते । उदाहरण के तौर पर मेहता लज्जाराम शर्मा कृत उपन्यास "स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी" (सन् 1899) को ही लीजिए । इस उपन्यासका गठन शर्माजी के सनातनी विचारों के प्रभावस्वरूप हुआ है । रमा अंग्रेजी शिक्षासे प्रभावित होकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहती है, जब कि लक्ष्मी भारतीय संस्कृति के अनुकूल पतिव्रता नारीका जीवन व्यतीत करती है । लेखक तुलनात्मक आधार पर भारतीय नारी के पतिव्रत की महत्ताको सिद्ध करता हैं । रमा जीवनमें बुरी तरह असफल

रहती है और लक्ष्मी एक अच्छी गृहिणी बनकर जीवन-यापन करती है । यहाँ समस्याओंका अत्यन्त सरलीकरण मिलता है । उपन्यासकी घटनाएँ, पात्र, समस्याएँ किन्हीं निश्चित समीकरणों या फार्मूलों पर निर्धारित रहती है, अतएव उनकी अवास्तविकता खटकती है ।

प्रेमचन्द पूर्ववर्ती-काल के सामाजिक उपन्यासकारों में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, महेता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध", मन्न द्विवेदी प्रभृति मुख्य हैं । इनके उपन्यासोंका दृष्टिकोण प्राय: सुधारवादी - उपदेशप्रधान मिलता है । जैसा कि पहले निर्दिष्ट हो चुका है यह सुधारवाद भी प्राय: दो कोटियों का है -- आर्यसमाजी और सनातनी । घटनाओं और समस्याओं के निरूपण में प्राय: सामाजिक यथार्थ को चित्रित किया गया है, किन्तु उपन्यासोंका अंत कर्म-फल-न्याय के अनुसार आदर्शवादी ढंगसे हुआ है । महेता लज्जाराम शर्मा जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर इस कालके अधिकांश उपन्यासकार आर्थिक संकटों से मुक्त होनेके कारण उनके उपन्यासोंमें आर्थिक - संघर्ष एवं संकट की तिक्तता एवं तल्खी का प्राय: अभाव-सा दिखता है ।

पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी का "भाग्यवती" उपन्यास अत्यन्त सरल एवं साधारण शैली में लिखा गया है । आधुनिक काल स्त्री-शिक्षा तथा नारी-अधिकारों को लेकर सविशेष चिन्तित रहा है । इस दृष्टि से उपन्यास का नायिका-प्रधान होना उसकी प्रगतिशीलताका द्योतक है । भाग्यवती अपने परिश्रम से साहित्य-शास्त्र तथा चिकित्सा शास्त्र आदिका ज्ञान प्राप्त करती है । अत: उसका जब विवाद होता है तब वह अपनी

दक्षता, शिक्षा एवं संस्कारों से ससुरालके सभी लोगोंका मन जीत लेती है, किन्तु उसका पति मनोहरलाल किसी भ्रम के कारण भाग्यवती को छोड़ देता है । शिक्षित होने के कारण भाग्यवती किसी पर निर्भर नहीं रहती । जीवन-निर्वाहकी समस्याको वह हल कर लेती है । अन्त में यथार्थ स्थितिका ज्ञान होने पर उसका पति उसे स्वीकार लेता हैं । अत: यहाँ भी समस्याको अत्यन्त सरलीकृत करके रखा गया है, किन्तु यह उपन्यास का प्रारंभ-काल है, इस दृष्टि से उसे ठीक ही समझा जायेगा ।

लाला श्रीनिवासदास कृत "परीक्षा गुरु" में मनमोहन नामक एक रईसके स्वार्थी, झूठे, कपटी एवं चाटुकार मित्रोंकी संगत में बिगड़ने और विलासिता में डूबनेकी कथा है । उनकी पत्नी और एक अन्य मित्र ब्रजकिशोर उन्हें निरन्तर समझाने की कोशिश करते हैं, किन्तु चाटुकारोंकी चिकनी-चुपड़ी बातोंकी तुलनामें इनकी शिक्षा पूर्ण बातें मदनमोहन को कडुवी लगती हैं । परिणाम स्वरूप सेठ मदन मोहन दिवालिये हो जाते हैं, ज़मीन जायदाद कुर्क हो जाती है और उन्हें बन्दी बना लिया जाता है । चाटुकार मित्र नौ-दो ग्यारह हो जाते हैं । अन्तत: उनकी पत्नी और ब्रजकिशोर ही काम में आते हैं जो उन्हें जेल से छुडा लाते हैं । शेठजी को अपने व्यवहार से ग्लानि होती हैं और वे सही रास्ते पर लौट आते हैं । जो बात सौ बार समझानेसे समझमे नही आती वह एक बार की परीक्षा से मनमें बैठ जाती है,इसीलिए उपन्यासका शीर्षक "परीक्षागुरु" रखा गया है ।

बालकृष्ण भट्ट इस युग के एक अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास कार हैं । धर्माधिकारी एवं पूजीपति शोषकों के प्रति प्रेमचन्द के व्यंग्यका तीखा

दंश उनके उपन्यासों में मिलता है । अत: अपनी यथार्थपरक शैली एवं दृष्टिके कारण प्रेमचन्दजी के पुरागामियों में भट्जीका स्थान निर्विवादित रूप से माना जायेगा ।[1] "नूतन ब्रह्मचारी" और "सौ अजान एक सुजान" उनके उपन्यास है । "नूतन ब्रह्मचारी" में ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार द्वारा डाकुओंके सरदारका हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है । यह उपन्यास विद्यार्थियोंको चरित्र-विषयक शिक्षा देनेके हेतुसे लिखा गया था । दूसरे उपन्यास की कथावस्तु परीक्षागुरू की-सी है । इसमें अवध-निवासी सेठ हीराचन्द के दो पुत्र चाटुकार मित्रों (सौ अजान) की संगत में गुमराह हो जाते हैं और जालसाज़ी के अपराध में पकड़े जाते है । अंतमें उनके शिक्षक चन्द्रशेखर (एक सुजान) उन्हें उस संकट से छुड़ा लाते हैं । यहाँ भी समस्याका बहुत सरलीकृत रूप मिलता है ।

राधाकृष्णदास मूलत: नाटककार है, किन्तु उन्होंने सोलह वर्षकी आयु में ही सन् 1890 में "निस्सहाय हिन्दू" नामक एक उपन्यास लिखा था । यह लेखकके किशोर वयकी कृति है, अत: उसमें भावातिरेक का होना स्वाभाविक है । इसकी वस्तु गोरक्षा आंदोलन से सम्बन्धित हैं । इसमें भारतवासियों की अकर्मण्यता एवं दुरावस्था का चित्रण भी मिलता है । किन्तु एक दृष्टि से यह उपन्यास अपने ढंगका पहला उपन्यास है, क्योंकि इसके द्वारा निम्न वर्ग को पहलीबार रंगमंच पर लाया गया है । निम्न वर्गीय जीवनकी दरिद्रता और दुर्दशाका चित्रण हिन्दी उपन्यासमें यहाँ प्रथम बार हुआ है ।[2]

अयोध्यासिंह उपाध्याय मूलत: उपन्यासकार न होकर कवि हैं। इनके उपन्यास "ठेठ हिन्दी का ठाठ" (सन् 1899) तथा "अधखिला फूल" (सन् 1907) औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं, वरन् भाषा सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से उल्लेखनीय समझे गये है ।[3] इनमें प्रथममें अनमेल विवाहका दुष्परिणाम बताया गया है । दूसरेमें धर्मकी महत्ता एवं अंध विश्वासोंका कुपरिणाम आदि दिखाया गया है ।[4]

किशोरीलाल गोस्वामी इस युगके एक अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं। इन्होंने छोटे-बड़े कुल 65 उपन्यास लिखे हैं जिनमें से कई ऐतिहासिक हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यास, उपन्यास कम ऐतिहासिक रम्याख्यान **(Historical Romance)** अधिक हैं। मुसलमानों के प्रति वो अनुदार थे। उनके अनुसार हिन्दू जाति संसारमें सर्वश्रेष्ठ और हिन्दू-धर्म सर्वाधिक मान्य और प्राचीन धर्म है । धर्म के प्रति यह आग्रह उनके उपन्यासों में भी प्रबल रूपसे दृष्टिगोचर होता है । सनातन धर्म के प्रति अगाध एवं अटूट आस्था होनेके कारण आर्यसमाज द्वारा प्रवर्तित सामाजिक सुधारोंके वे घोर विरोधी थे । स्त्री-शिक्षाको वे आवश्यक नहीं मानते थे । उनके उपन्यासों में कर्म-फल न्यायकी अभिव्यक्ति हुई हैं । "त्रिवेणी या सौभाग्यवती" (सन् 1890), "लीलावती या आदर्शसती" (सन् 1901), "राजकुमारी" (सन् 1902), "चपला या नव्य समाज" (सन् 1903-1904), "पुनर्जन्म या सौतिया डाह" (सन् 1907), "माधवी माधव या मदन मोहिनी" (सन् 1909-10), "अंगूठीका नगीना" आदि इनके प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं । त्रिवेणीमें मनोहरदास नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति की कहानी है । उसमें नौका-दुर्घटना के कारण उसकी पत्नी से बिछुड़ते और मिलने की कथा है ।

"लीलावती" सनातन फार्मूला पर आधारित उपन्यास है जो लीलावती एवं कलावती नामक दो स्त्रियों के चरित्र की कहानी है । लीलावती सती सदाचारिणी स्त्री है और उसकी दूसरी बहन कलावती नव्य समाजकी चमक-दमक से प्रभावित है । अत: लीलावती जहाँ ललित किशोर नामक व्यक्ति से विवाह करके सुखी होती है वहाँ कलावती बालकृष्ण नामक एक लम्पट व्यक्ति के साथ भागकर सिविल-मेरेज करती है, किन्तु उसकी वासना अतृप्त रहती है । वह पुन: एक नौकर के साथ भाग जाती है । फिर तो यह एक सिलसिला-सा हो जाता है, अन्तत: वह एक धृणित रोगका शिकार होकर आत्महत्या कर लेती है । गोस्वामी अन्य उपन्यासोंमें भी यही विचारधारा प्रतिबिम्बित हुई है ।

ठाकुर जगमोहनसिंह, बाबू ब्रजनन्दन सहाय तथा मन्न द्विवेदी इस युगके अन्य सामाजिक उपन्यासकार हैं । इनमें प्रथम दोके उपन्यास प्रेमाख्यानक प्रकार के हैं । मन्न द्विवेदीके उपन्यासों में समाज के सभी वर्गोंका चित्रण मिलता है । उनकी व्यंग्यपूर्ण यथार्थमूलक शैली उन्हें प्रेमचन्द-स्कूल से जोड़ती है । "रामलाल" (सन् 1917) नामक उपन्यासमें एक असहाय एवं अनाथ व्यक्ति के संघर्षकी कहानी को प्रस्तुत किया गया है । उसका अंत आदर्शवादी है । इनके अन्य उपन्यास प्रेमचन्द्र युगमें आते हैं । वस्तुत: यह तो उपन्यास साहित्यकी दृष्टिसे एक प्रारम्भिक काल या प्रयोग काल है । उपन्यासका वास्तविक प्रारंभ तो प्रेमचन्द-युग से माना जायगा । मानव-चरित्रोंकी सही पहचान हमें सर्वप्रथम प्रेमचन्द में मिलती हैं ।

प्रेमचन्द के उपन्यास औपन्यासिक कलाकी दृष्टि से पुष्ट, बहुआयामी, चरित्रात्मक, महत् उदेश्यलक्षी तथा मानवतावादी दृष्टि से संपन्न मिलते हैं। उनकी दृष्टि प्रारंभसे ही समाजोन्मुखी रही है, अतः सामाजिक समस्याओंकी सूक्ष्म पकड़ जितनी प्रेमचन्द में है, अन्यत्र कम मिलती है। डॉ॰ रामदरश मिश्र के शब्दों में "सेवासदन" उपन्यास कला और समस्याओंकी पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से पहला परिपक्व उपन्यास है।"[5] समाजकी सभी समस्याएँ परस्पर जुड़ी हुई रहती है, उदाहरण के लिए हम रिश्वतकी समस्याका लें तो पायेंगे, कि रिश्वतका मूल सामाजिक कुरिवाजों में है। सुमन (सेवासदन) के पिता कृष्णचन्द्रको रिश्वत क्यों लेनी पड़ी। सुमन के विवाह के लिए। सुमन जैसी योग्य, सुशील एवं सुन्दर लड़कीका विवाह भी बिना दहेज के नहीं हो सकता। बेचारे कृष्णचन्द्र सुमन के दहेज के लिए रिश्वत लेते हैं पर अनभ्यस्त होने के कारण पकड़े जाते हैं और अन्ततोगत्वा अर्थाभाव में सुमन गजाधर जैसे अपात्र के गले मढ़ दी जाती हैं।

"सेवासदन" में प्रेमचन्दजीने वेश्या समस्याके उत्स को पहचाना है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्थाने समाजकी नींव हिलादी है। सर्वत्र नगद नारायण की पूजा हो रही है। "जब हम देखते हैं कि अशिक्षित, भ्रष्टाचारी, कुसंस्कारी, अर्थपिशाच, नरभक्षी, धनवान गुंडा सरेआम किसी शिक्षित, संस्कारी, चरित्रवान व्यक्तिकी पगड़ी उछाल सकता है या किसी की भी जीवन-डोरीको कभी भी कटवा सकता है, तो हमारी नज़रमें चरित्रका क्या मूल्य रह जायेगा।"[6] सुमन के वेश्या होनेका भी यही कारण है। यद्यपि सुमन प्रारंभ से ही शौकीन तबियत है, तथापि गजाधर के घरमें रूखी-सूखी

खाकर भी अपने संस्कारों पर दृढ़ रहती है । भोली नामक वेश्याके सम्बन्धमें वह सोचती है -- "मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ । किसी भले मानुस के घरमें मेरी रोक नहीं, कोई मुझे नीचतो नहीं समझता । वह कितना ही भोग विलास करें, पर उसका कहीं आदर तो नहीं होता । बस, अपने कोठे पर बैठी अपनी निर्लज्जता और अधर्म का फल भोगा करे ।"[7]

पर मोलूद, रामनवमी और होलीवाले प्रसंगोंसे उसकी यह भ्रांति भी टूटती है । मोलूद और रामनवमी के जन्मोत्सव वाले प्रसंग के बाद से वह सोचती है -- "भोली के सामने केवल धन ही सिर नहीं झुकाता, धर्म भी उसका कृपा कांक्षी है ।"[8]

होलीवाले दिन पद्मसिंह के यहाँ भोलीके मुजरेने उसके विश्वासको और भी धराशायी कर दिया -- "आज तक मैं समझती थी कि कुचरित्र लोग ही इन रमणियों पर जान देते हैं किंतु आज मालूम हुआ कि उनकी पहुँच सुचरित्र और सदाचारशील पुरुषों में भी कम नहीं है ।"[9] इस प्रकार सुमन के विचार क्रमश: परिवर्तित हो रहे थे, तभी उसके पतिके असभ्य व अयोग्य व्यवहार ने उस पर कुठाराघात किया । पति द्वारा त्याग दिए जाने पर हमारा सभ्य, कुलीन, उच्च (?) समाज उसे पनाह नहीं देता । पनाह मिलता है भोली के कोठे पर । यह भी एक विडंबना है । इस प्रकार हम देख सकते हैं कि धन द्वारा प्राप्त सुख नहीं, वरन् धन द्वारा प्राप्त सम्मान व प्रतिष्ठा सच्चरित्र व्यक्ति को भी पतनोन्मुखी करता है । पुरूष अप्रामाणिक, घूसखोर, चोर व मक्कार बनता है तो स्त्री वेश्या बनती है । कुंवर अनिरूद्धसिंह के शब्दों में मानो प्रेमचन्द ही कह रहे हैं - "हमारे शिक्षित भाईयों की ही बदौलत

दालमण्डी आबाद है । चौक में चहल-पहल है । चकलों में रौनक है । यह मीना बाजार हम लोगों ने ही सजाया है । ये चिडियाँ हम लोगों ने ही फासी है । ये कठपुतलियाँ हमने ही बनायी हैं । जिस समाजमें अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर व सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो । हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहा जा सकता है । जिस दिन नज़राना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जाएगी ।"[10] वेश्या समस्या के अतिरिक्त "सेवासदन" उपन्यासमें लेखकने मध्यवर्गीय झूठी शान, तत्कालीन हिन्दी साहित्यकी दरिद्रता, खोखले धर्माधिकारी व महन्त, हिन्दू-मुस्लीम विद्वेष, हिन्दुस्तानियोंकी गुलाम मनोदशा, भ्रष्टाचारी नेता जैसी अनेकानेक समस्याओंको भी रेखांकित किया है । वस्तुत: इसी उपन्यास से समस्यामूलक उपन्यासोंका सूत्रपात्र होता है । पहले कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द की दृष्टि समाजोन्मुखी होने के कारण उनके सभी उपन्यासोंमें किसी-न-किसी प्रकार की समस्याका निरूपण मिलता ही है । "प्रेमाश्रम" (सन् 1920) किसानों एवं जमींदारों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष को रेखांकित करनेवाला उपन्यास है । डॉ॰ गणेशन के शब्दों में "भारतकी सामान्य जनताका जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख अंग है । और इस जागरण पर लिखित प्रथम श्रेष्ठ उपन्यासके रूपमें "प्रेमाश्रम" महत्वपूर्ण रचना है ।"[11] इस बृहद् उपन्यासमें सदियों से पददलित कृषक समाज, उसकी अज्ञानता, भीरुता, जमींदार और उसके कारिन्दों के अत्याचार आदिका बड़ा यथार्थ चित्रण हुआ है । केवल उसका अंत आदर्शवादी ढंगका है ।

"रंगभूमि" (सन् 1925) प्रेमचन्दजीका एक बहुवस्तुलक्षी उपन्यास है । महात्मा गांधी तथा उसके राष्ट्रीय आंदोलनकी पृष्ठभूमि में ही "रंगभूमि" के कथानक का आयोजन हुआ है । डॉ• रामनिवास शर्मा के शब्दों में वस्तुत: यह सन 20 और 30 के आन्दोलनों के बीच हिन्द-प्रदेश की रंगभूमि है । "प्रेमचन्दकी पैनी निगाह देख रही थी कि हिन्दुस्तान की जनता लड़ रही है – बिना किसी पार्टीकी मदद के, बिना किसी राजनीतिक नेताकी सलाह का फायदा उठाए । यह सन् 20 और 30 के बीचका उपन्यास है जब हिन्दुस्तान में बड़े-बड़े नेताओंकी तरफ़ से राष्ट्रीय आंदोलनका संचालन हो रहा था, जब अंग्रेज कहते थे कि देशमें शांति है । तब भी सूरदास लड़ रहा था और मृत्यु-शय्यासे पुकारकर कह रहा था -- "फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो ।" यह भारत की अजेय जनता का स्वर था ।"[12] "रंगभूमि" में प्रेमचन्द जीने औद्योगीकरण की समस्याको भी उठाया है । प्रेमचन्दजी नहीं चाहते थे कि देशका किसान मज़दूर हो जाय । अत: सूरदास सिगरेट के कारखानेका जी-जानसे विरोध करता है । सिगरेटका कारखाना खुलनेसे बाहर से मजदूर बस्तीमें आयेंगे, जुआ, शराब और ताड़ीका प्रचलन बढ़ेगा, कस्बिनें आयेंगी और वस्तीका वातावरण भ्रष्ट व कलुषित होगा । यह सूरदासकी चिन्ता थी और सही चिन्ता थी । आज हम बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में क्या देख रहे हैं ? प्रेमचन्द की पैनी निगाह ने अंध किन्तु प्रज्ञा – चक्षु सूरदास के द्वारा इसका दर्शन बहुत पहले ही कर लिया था ।

"कायाकल्प" (सन् 1926) प्रेमचन्दजी के मुख्य साहित्यिक-चिंतनसे कुछ अलग हटा हुआ-सा उपन्यास जान पड़ता है । रानी देवप्रिया और उसके पति के पूर्व-जन्मोंका वृतान्त किसी तिलस्मी कहानी से कम नहीं है ।

प्रेमचन्दजी जैसे प्रखर बुद्धिवादी लेखक की कलमसे ऐसे उपन्यासका आना एक आश्चर्यकी बात है । यहाँ "शायद भारत के हिन्दू समाज में रूढ़ भूल अंध-विश्वासों और मूढ़ परम्पराओं को दिखाना ही प्रेमचन्दजीका ध्येय रहा हो ।"[13] परन्तु ऐसे नितान्त वायवी उपन्यासमें भी प्रेमचन्दजीने हिन्दू-मुस्लीम वैमनस्यकी समस्याको लिया है जो उस समयकी एक ज्वलन्त समस्या थी जिसके कारण हिन्दू - मुस्लीम अपने राष्ट्रीय हितोंको पीछे धकेलकर एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते है.।

"कर्मभूमि" (सन् 1932) का कथानक राजनीतिक आंदोलनोंके तानों-बानों से बुना गया है । अछूतोद्धार जमींदार-किसान संघर्ष, सूदखोरी आदि समस्याएँ भी यहाँ उठायी गयी हैं । "निर्मला" (सन् 1926) में लेखकने नारी-जीवनको नरक बनानेवाली एक भयंकर समस्या - दहेजप्रथा तथा उसके फलस्वरूप अनमेल-विवाहको चित्रित किया है । अस्पृश्यताकी भाँति दहेजप्रथा भी हिन्दू-समाजका महान कलंक है । इसके कारण कोमल कलिका-सी शोडश वर्षीया निर्मला की शादी तीन बच्चों के पिता अधेड़ मुंशी तोतारामसे हो जाती है । उसका बड़ा लड़का मंसाराम निर्मलाका हम उम्र है । तोताराम निर्मलाको लेकर उस पर शंका करता है । शंका - कुशंका तथा क्लेश के वातावरण में दो परिवार नष्ट हो जाते हैं । "सुमन" और "निर्मला" एक ही समस्याका शिकार है, किन्तु दोनोंकी परिणति भिन्न ढंगसे हुई है । समस्याकी एकोन्मुखता एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण "निमला" का वस्तु - संगठन अधिक चुस्त लगता है । "गबन" (सन् 1930) में स्त्रियोंके आभूषण - प्रेम, मध्यवर्गीय झूठी शान तथा प्रदर्शन - वृत्ति, पुलिसके हथकण्डों आदिका बड़ा ही सुन्दर दिग्दर्शन मिलता है ।

" "गोदान" ﴾सन् 1936﴿ प्रेमचन्दका ही नही, हिन्दी उपन्यास साहित्यका श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है । xxx प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का आदर्शवादी सपना टूट गया है, वह यथार्थका दृष्टा हो गया है ।"[14] सामाजिक शोषण के खिलाफ जो आवाज़ "सेवासदन" से उठी थी, "गोदान" में वह और भी व्यापक फलक को समेटकर अपनी बुलन्दियों पर पहुंच गई है । प्रेमचन्दजीकी मृत्यु पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था -- "एक रत्न मिला था तुमको, तुमने खो दिया ।"[15] हिन्दी वालोंने उस रत्नको तो खो दिया, पर उस रत्न की और से मिला हुआ "गोदान" रूपी रत्न तो हिन्दी साहित्यकी अमूल्य-निधि है ।

हमारे यहाँ एक विचित्रता तो यह भी है कि "नारी" और "किसान" को जगज्जननी और जगत तातके रूपमें खुब ऊपर उठाया गया और फिर उन्हींकी दुर्गति में भी कोई कसर नही रखी गई । प्रेमचन्दजीने इन दोनों के शोषणको रेखांकित किया है -- "निर्मला" नारी-जीवन की ट्रेजड़ी है, तो "गोदान" कृषक जीवनकी । गोदान में हम देखते हैं कि "पटवारी, जमींदारके चपरासी, कारिन्दे, थानेदार, कान्सटेबल, कानूनगो, तहसीलदार, डिप्टी मेजिस्ट्रेट, कलक्टर, कमिश्नर, दूसरे शब्दोमें अंग्रेजोंकी सारी प्रशासनिक मशीनरी किसान के पीछे पड़ी हुई थी । यहाँ तक कि डाक्टर, इन्सपेक्टर, विभिन्न महकमों के हाकिम, पादरी सभी किसान से रसद लेते थे । जमींदार जब किसी बडे अफ़सर को दावत देता था उसका भार भी किसानों पर ही पड़ता था ।"[16] ऋण की समस्या भारतीय कृषक समाजके लगा हुआ वह अभिशाप है, जिसने उसके जीवन के सारे तत्वोंको, उसके उमंग-उल्लासको, उसके सपनोंको भुन डाला है । डॉ॰ रामविलास शर्मा के मतानुसार यह ऋण की समस्या ही "गोदान" की मुख्य समस्या है । जिन दिनों में "गोदान"

लिखा जा रहा था, प्रेमचन्दजी स्वयं गले तक ऋणमें डूबे हुए थे । अत: होरीकी समस्या एक तरहसे प्रेमचन्दजीकी भी समस्या थी ।[17]

"रंगभूमि" की तरह यहाँ भी प्रेमचन्दजी ने अपना सारा ध्यान "होरी" पर ही केन्द्रित किया है और उसके जरिये समूचे कृषक समाजको प्रतिध्वनित किया है । बृहद कृषक समाज जो सदियों से अज्ञान अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, संकीर्णता, असंगठन के कारण अपेक्षा कृत एक बहुत छोटे समुदाय (जमींदार महाजन और सरकारी अमलदारोंका शोषक वर्ग) के आगे पीसता झुलसता रहा है और जो अपनी झूठी "मरजादा" के लिए उनके राक्षसी जबडों में अपने आप पहुँचता रहा है, उसकी त्रासद स्थितियोंका लेखकने यहाँ बखुबी अंकन किया है ।

"गोदान" में निरूपित ग्रामीण एवं नागरिक कथाको आचार्य नन्ददुलारे ने बैमेल, अनुपयुक्त एवं अनावश्यक माना है,परन्तु गोदानको आद्यन्त देख जानेसे हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता । "बल्कि नागरिक कथाके अभाव में भारतीय किसान का खरा चित्र ही कदाचित न उभरता । प्रेमचन्दजी एक युगदष्टा कलाकार थे और उन्होंने भली भाँति देख लिया था कि किसान का शोषण केवल जमींदारों द्वारा ही नही होता, प्रत्युत एक पूरी मशीनरी है जो पूजीवादी व्यवस्थाकी देन है । रायसाहब, खन्ना और तंखा इसी मशीनरी के विभिन्न पुर्जे है । शोषण ऊपर से नीचे की ओर होता है । किसान और मजदूर सबसे नीचे हैं, जो बेचारे दब जाते हैं ।"[18]
डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान "गोदान" के इस बदले हुए स्वर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं -- "यह उपन्यास केवल होरीका "गोदान" नहीं है ।

प्रेमचन्दकी आस्था का भी "गोदान" है । सदनों, निकेतनों, आश्रमों में लेखक की आस्थाका गोदान है । उनका विश्वास सुधारवादी, गाँधीवादी समाधान से उठ गया है । .... प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है ।"19

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो निर्दिष्ट हो ही सकता है कि समस्याओंकी सूक्ष्म पकड प्रेमचन्द में है । उनके उपन्यासों द्वारा हम तत्कालीन समाज की नब्ज़ को भली भाँति पकड़ सकते हैं । अपने जमानेकी ऐसी कोई समस्या न होगी जो प्रेमचन्दजीकी सूक्ष्म दृष्टि से अलिप्त रही हो ।

इस युग के अन्य उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, ऋषभचरण जैन, जयशंकरप्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, राजाराधिका रमणप्रसादसिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", सियारामशरण गुप्त, गोविन्द वल्लभ पंत, शिवरानी देवी, तेजरानी दीक्षित, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि मुख्य हैं । इनमें से अंतिम तीन का कृतित्व तो अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में था । उनकी औपन्यासिक कलाका विकास तो प्रेमचन्दोत्तर युग में ही हुआ । प्रेमचन्द और उनके सामाजिक उपन्यासोंका जादू कुछ ऐसा रहा कि वृन्दावनलाल वर्मा एवं चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखक जो बादमें ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूपमें स्थापित हुए, उन्होंने भी कुछ सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास दिये ।

प्रेमचन्दोत्तर कालमें निम्नलिखित पाँच औपन्यासिक - प्रवृत्तियाँ होती है :-

:1: सामाजिक उपन्यास

:2: समाजवादी उपन्यास

:3: मनोवैज्ञानिक उपन्यास

:4: आँचलिक उपन्यास और

:5: ऐतिहासिक उपन्यास

प्रेमचन्दयुगीन सामाजिक उपन्यासोंकी परम्परा आगे भी विकसित होती रही है ।

पांडेय बेचन शर्मा उग्र के उपन्यासों में "सरकार तुम्हारी आँखों में" ॥सन् 1937॥, "जी जी जी" ॥सन् 1943॥, "कढ़ी में कोयला" ॥1955॥ तथा "फागुन के दिन चार" ॥1960॥ आदि उल्लेखनीय हैं । "फागुन के दिन चार" में मोहमयी मायानगरी बम्बईकी जीवनगत समस्याओंके साथ फिल्म जगतकी कुत्सित प्रवृत्तियों का रहस्योद्घाटन भी हुआ है । भगवतीप्रसाद बाजपेयी के उपन्यासों में "पिपासा" ॥1937॥, "दो बहिनें" ॥1950॥, "धरती की साँस ॥1955॥, भूदान" ॥1955॥ "दराब और धुआँ" आदि मुख्य हैं । सियारामशरण गुप्तका उपन्यास "नारी" ॥1937॥ नारी-जीवन की ट्रेजडी को अभिव्यक्त करनेवाला उपन्यास है । "निर्मला", "नारी" और "त्यागपत्र" इन तीन उपन्यासोंकी लघुत्रयी नारीकी दीन-हीन असहाय अवस्थाको उनकी यथार्थ स्थितियों को टोहते हुए चली हैं । डॉ॰ नगेन्द्रने "त्यागपत्र" और "नारी" की तुलना करते हुए लिखा है :- "त्यागपत्रका

कौशल अपनी विदग्धताके बल पर अपने मेधावी शिल्पकी दुहाई देता है, और "नारी" का कौशल अपनेको छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पकी सिफारिश करता है ।"[20]

विवेच्य काल-सीमा में भगवतीचरण वर्मा के "चित्रलेखा" "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" {1946}, "आखिरी दाँव" {1950}, "अपने-अपने खिलौने" {1957}, "भूले-बिसरे चित्र" {1959}, "वह फिर नहीं आई" {1960} आदि उपन्यास मिलते हैं । "चित्रलेखा" में पाप-पुण्य की समस्याको लिया गया है । टेढ़े-मेढ़े रास्ते" में स्वाधीनता-पूर्व राजनीतिक आंदोलन के तीन रास्तों - गांधीवादी, आतंकवादी और साम्यवादी को उपन्यास का विषय-वस्तु बनाया है । "भूले-बिसरे चित्र" सामन्तीय संस्कारों में पले हुए एक परिवार की चार पीढ़ियोंकी कहानी के द्वारा भारतीय इतिहासके बदलते हुए चित्र एवं जीवन-मूल्योंका कलात्मक आकलन है । "आखिरी दाँव" की मूल समस्या आर्थिक है । "अपने-अपने खिलौने" में दिल्ली के एक विशिष्ट प्रकार के समाज का व्यंग्य-चित्र है तो "वह फिर नहीं आई" विभाजन के बादकी विस्फोटक स्थितियोंको रेखांकित करता है ।

सामाजिक उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का एक विशिष्ट स्थान है । इनके उपन्यासों में "महाकाल" {1947}, "सेठ बाँकेमल" {1955}, "बूद और समुद्र" {1956} प्रभृति उपन्यास विवेच्यकाल में आते हैं । "बूंद और समुद्र एक बृहद् उपन्यास है जिसमें बूंद और समुद के माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों को उद्घाटित किया गया है । डॉ॰ रामदरश मिश्र के शब्दों में, "बूद और समुद" समाज के बुनियादी यथार्थ की रीढ़ पर खड़ा है । अर्थात उसने आजके मनुष्यके भीतर उठते हुए भावगत, विचारगत

परिवर्तनों, संक्रान्त मूल्यों और सम्बन्धों, राजनीतिक दलोंकी विभीषिकाओं से त्रस्त होती हुई मानवताको पहचाना है । लेखक ने समाज और व्यक्ति दोनोंकी विसंगतियोंको तीव्र यथार्थवादी दृष्टि से देखा है, उसने समाजके विविध चरित्रोंको और उनके सम्बन्धों को पहचाना है ।"[21]

उपेन्द्रनाथ "अष्क" के उपन्यासों में उत्तर भारतीय विशेषत: पंजाब की मध्यवर्गीय समाजका यथार्थ आकलित हुआ है । अपने उपन्यासों में निरूपित यथार्थवादको अश्कजीने आलोचनात्मक यथार्थवाद कहा है ।[22] उनकी यथार्थवादी दृष्टिको अज्ञेयजीने अणुवीक्षक दृष्टि कहा है । "जिस तरह मूर्ति पर चलता हुआ चींटा उसकी रचना की एक-एक बारीकी और सतह के खुरदरेपन को देखता है"[23] उसी प्रकार अश्कजीने समाजकी सूक्ष्माति - सूक्ष्म विकृति एवं विसंगतिको अपने उपन्यासोंमें उभारा है । विवेच्य समय-सीमा में उनके "सितारों के खेल" (1936), "गिरती दीवारें" (1947), "गर्मराख" (1952), "बड़ी-बड़ी आँखें" (1955), "पत्थर-अल-पत्थर" (1957), प्रभृति उपन्यास मिलते हैं । "गिरती दीवारे" उनका एक बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें उन्होंने निम्न मध्यवर्गकी आर्थिक विषमता और यौन-कुण्ठाओंका सजीव चित्र अंकित किया है ।

आधुनिक कथा-शिल्पियों में बहुचर्चित एवं सशक्त हस्ताक्षर हिमांशु श्रीवास्तव प्रेमचन्द्रजीकी परम्परा के उपन्यासकार हैं । उनके उपन्यासोंमें भारतीय किसान और मज़दूर जीवनका सफल एवं विश्वसनीय चित्र उभरता है । "लोहे के पंख" (1958) उनकी एक सशक्त औपन्यासिक रचना है जिसमें मगरू चमारकी चार पीढ़ियोंकी कहानीको लेखक ने लिया है । यह

गरीबी और शोषणकी तिक्तता को उभारनेवाला उपन्यास है । गरीबोंका शोषण हर जगह हो रहा है । गाँव में बच्चा बाबू जैसे जमींदार है तो शहरमें नेतागण । एक नागनाथ तो दूसरा साँपनाथ । "उपन्यासका नायक मंगरू अद्भुत माटीका बना व्यक्ति है । वह हाड़-मांसका पुतला नहीं, बल्कि फौलादी आदमी है । वह उड़ना चाहता है पर उसके पंख लोहे के हैं जिन पर परिस्थितियों का इतना बोझ आ पड़ा है कि उसका आगे बढ़ना भी दूभर हो गया है, फिर भी क्या वह कभी हिम्मत हारता है ।"[24]

सामाजिक और समाजवादी दोनों प्रकारके उपन्यासोंमें सामाजिक यथार्थ को उकेरा जाता है, किन्तु जहाँ सामाजिक उपन्यासोंकी कोई निर्दिष्ट विशिष्ट दृष्टि नहीं होती, वहाँ समाजवादी उपन्यासोंमें यथार्थ को निरूपित करनेवाली प्रगतिवादी-मार्क्सवादी दृष्टि रहती है । समाजवादी उपन्यासोंमें समाजकी समस्याओंका निरूपण इसी दृष्टिको केन्द्र में रखकर होता है । समाजवादी उपन्यासकार सर्वहारा वर्ग का चितेरा होता है । वह सब प्रकार के शोषणोंका प्रखर विरोधी होता है । पूंजीवादी ही नही बल्कि उसे पोषित करनेवाली सभी सड़ी-गली, पुरानी मान्यताओं एवं परम्पराओं के प्रति उनमें विद्रोहकी भावना मिलती है । सर्वश्री यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, पंडित राहुल सांकृत्यायन, भैरवप्रसाद गुप्त आदि प्रमुख समाजवादी उपन्यासकार हैं ।

विवेच्य कालमें यशपालजीके "दादा कामरेड" (1941), "देशद्रोही" (1943), "पार्टी कामरेड" (1946) "मनुष्य के रूप" (1949), "झूठा-सच" (1958-60), प्रभृति उपन्यास आते है । इन उपन्यासों में उन्होने

मार्क्सवादी दृष्टि से समाजके यथार्थको उकेरा है तथा दलित, पीड़ित, शोषित वर्गकी समस्याओंको वाणी प्रदानकी है । "मनुष्य के रूप" में नारी-शोषण के बदलते हुए रूपको रेखांकित किया गया है। किन्तु उनकी अक्षय कीर्तिका आधार तो है "झूठासच" । दो भाग और बारह सौ पृष्ठों में फैले इस महाकाय उपन्यासमें संक्रान्तिकालीन भारत का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हुए भारत-पाकिस्तान विभाजनकी विभीषिका एवं उसके भयंकर परिणामोंका बड़ाही हृदय द्रावक चित्रण प्रस्तुत किया है ।

बिहार और विशेषत: मिथिलाके जीवनकी कथा-व्यथा एवं जन जीवन की महक हमें नागार्जुनके उपन्यासोंमें मिलती है । "रतिनाथ की चाची" (1949), "बलचनमा" (1952), "नईपौध" (1953), "बाबा बटेसरनाथ" (1954), "दु:खमोचन" (1957), "वरूणके बेटे" (1957), "कुंभीपाक" (1960) प्रभृति उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं । "रतिनाथ की चाची" एक विधवा ब्राहमणी की विवशता, गरीबी और शोषण की कहानी है । "बलचनमा" में लेखक की समाजवादी चेतना और उभरकर सामने आयी है । "बाबा बटेसरनाथ" में औपन्यासिक शिल्पका नवीन प्रयोग हुआ है । इसमें एक पुराना वटवृक्ष उपन्यास के नायक जयकिशनको उसकी पिछली तीन पीढ़ियों पर जमींदारों द्वारा किये गये अत्याचारोंकी कहानी सुनाता है । "वरूणके बेटे" में मछुओंके साहसिक जीवनकी कहानी को लिया गया है, तो "दु:खमोचन" में पिछड़े हुए गाँवों में उभर रही नयी चेतनाको उजागर किया गया है ।

साम्यवादी चेतना के सशक्त हस्ताक्षरों में एक रांगेय राघव भी है । 39 वर्षकी अल्प आयुमें उन्होंने लगभग 30 उपन्यास दिये है, जिनमें "घरौंदे"

§1941§, विषादमठ" §1946§, "हुजूर" §1952§, "सीधासादा रास्ता" आदि प्रमुख हैं । "विषाद मठ" और "सीधा सादा रास्ता" क्रमश: "आनंद मठ" और "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" की प्रतिक्रिया के रूपमें लिखे गये हैं । "हुजूर" में एक कुत्तेकी आत्मकथाके द्वारा मानव-शोषण की भीषणताको रेखांकित किया गया है ।

इस धाराके अन्य उपन्यासोमें भैरवप्रसाद गुप्त कृत "मशाल" §1951§, "गंगा मैया" §1953§, और"सत्तीमैयाका चौरा" §1959§, अमृतराय कृत "बीज" §1953§, "नागफनीका देश", "हाथी के दाँत", लक्ष्मीकांत वर्मा कृत "खाली कुरसीकी आत्मकथा" §1958§, लक्ष्मीनारायणलाल कृत "धरती की आँखे" §1951§, "बया का घोंसला और साँप" §1953§, "काले फूल का पौधा §1955§, "रूपाजीवा" §1959§, राजेन्द्र यादव कृत "प्रेत बोलते है" §1952§[25] "उखड़े हुए लोग" §1956§, कुलटा §1958§ आदि मुख्य हैं ।

साम्यवादी - मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इतिहासका विश्लेषण प्रस्तुत करनेवाले उपन्यासकारों में पंडित राहुल साकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव प्रभृति मुख्य हैं । उनके ऐतिहासिक उपन्यासोंमें तत्कालीन समाजकी समस्याएँ एक विशिष्ट दृष्टिके परिप्रेक्ष्य में आयी हैं । पंडित राहुल सांकृत्यायन "सिंह सेनापति" §1942§, "जय यौधेय" §1944§, रांगेय राघव कृत "मुर्दों का टीला" §1948§, यशपाल कृत "दिव्या" §1945§ तथा "अमिता" §1956§ इस प्रकार के उपन्यास हैं ।

एक विशिष्ट भूभाग, अंचल या जनपद को उभारने उदेश्य से लिखित वातावरण प्रधान उपन्यासोंको आंचलिक कहा गया है । वातावरण का चित्रण तो अन्य उपन्यासों में भी होता है परन्तु वहाँ वातावरण पात्रोंके लिए पृष्ठ

भूमिका निर्माण करते हैं जबकि आंचलिक उपन्यास में पात्र तथा अन्य उपकरण वातावरण के लिए पृष्ठभूमि बनाते हैं । वस्तुत: आँचलिक उपन्यासो में वातावरण ही नायक होता है । फणीश्वरनाथ रेणुके उपन्यास "मैला आंचल" §1954§ के प्रकाशन के साथ ही हिन्दीमें इस औपन्यासिक धाराका सूत्रपात हुआ । बकौल रेणुके "मैला आँचल" में "फूल भी है, शूल भी है", धूल भी है, गुलाल भी है, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुन्दरता है, कुरूपता भी ।[26] "मैला आंचल" में चित्रित जनपद है पूर्णिया जिलेका मेरीगंज गाँव, उसके वन-उपवन, नदी-निर्झर, खेत-खलिहान, झाड़-झंखाड, पशु-पक्षी, विभिन्न जातिके लोग - यादव टोली, कायथटोली, क्षत्रिय टोली, ततमा टोली, पासवान टोली, कोयरी टोली -- उनकी बोलियाँ, आचार-विचार, विश्वास - अंधविश्वास, गीत-नाच, आनंद-उल्लास, दु:ख-दर्द, सभी मानो फिल्मके चित्रकी भाँति हमारे सामने प्रत्यक्ष होजाता है । इस धारा के अन्य उपन्यासों में रेणु कृत "परती: परिकथा" §1957§, शिवप्रसाद मिश्र "रूद्र" कृत "बहती गंगा" §1952§, शैलेश मटियानी कृत "होलदार" §1960§, "चिट्ठीरसैन", "एक मूठ सरसों", देवेन्द्र सत्यार्थी कृत "रथके पहिये" §1953§ और "ब्रह्मपुत्र" §1956§, राजेन्द्र अवस्थी कृत "जंगल के फूल" §1960§, रांगेय राघव कृत "कब तक पुकारूँ" §1957§ और उदय शंकर भट्ट कृत "सागर लहरें और मनुष्य" §1957§ आदि मुख्य हैं ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मानव-जीवन की आंतरिक सूक्ष्म समस्याओं को रखा जाता है । डॉ॰ देवराज उपाध्याय के शब्दों में, "यदि किसी उपन्यासमें घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूपको अभिव्यक्ति पर आग्रह पायेंगे तो उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे ।"[27] इस प्रकार इसमें स्थूलतासे

सूक्ष्मताकी ओर संक्रमण होता है । जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डॉ॰ देवराज आदि के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंकी कोटिमें आते हैं । मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंका सूत्रपात जैनेन्द्र के "परख" उपन्यास से हुआ जो प्रेमचन्द युगका उपन्यास है । आलोच्यकालमें उनके "त्यागपत्र" {1937}, "कल्याणी" {1939}, "सुखदा" {1952}, "विवर्त" {1953}, "व्यतीत" {1953}, "जयवर्धन" {1956", प्रभृति उपन्यास आते हैं । "त्यागपत्र" जैनेन्द्रजी की एक कालजयी कृति है । अपने लघु कलेवर में भी वह महान औपन्यासिक संभावनाओंको लिए हुए है । मानवीय सवेदनाकी इतनी गहराई व मार्मिकता अन्यत्र दुर्लभ है । "निर्मला" और "नारी" के पश्चात् नारी-जीवनकी अश्रुगाथा का सशक्त रूप हमें "त्यागपत्र" में मिलता है । "सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है ।"[28] जैनेन्द्र के सभी उपन्यास इसी आत्म-व्यथा के प्रत्याख्यान हैं ।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं । प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य-परंपराओंका उनका ज्ञान अगाध है । इसके साथ यदि प्रेमचन्द्रका अनुभव एवं संघर्ष तथा जैनेन्द की दृष्टि उन्हें प्राप्त होती तो हिन्दीके औपन्यासिक साहित्य का गौरव वे और भी बढ़ाते । डॉ॰ भारतभूषण अग्रवाल के मतानुसार जोशीजी में शास्त्र अधिक मिलता है, जीवन कम । जीवन से शास्त्रका निर्माण होता है, जोशीजी शास्त्र से जीवनका निर्माण करते हैं ।[29] उनके उपन्यासों में "सन्यासी" {1941}, "पर्देकी रानी" {1943}, "प्रेत और छाया" {1946}, "सुबह के भूले" {1952}, "जिप्सी" {1952} "जहाजका पछी" {1956} प्रभृति आलोच्य कालकी सीमा में आते हैं ।

अज्ञेय हिन्दी कथा-साहित्यके सर्वाधिक विवादास्पद साहित्यकार हैं। आधुनिकों में सर्वाधिक पाश्चात्य प्रभाव उनमें मिलता है। वैज्ञानिक निरपेक्षता एवं तटस्थता उनके कथा-साहित्यकी विशेषता है। वे व्यक्ति चरित्रकी समग्रताको प्रस्तुत करनेवाले कलाकार है। प्रारंभ से उनकी रूचि व्यक्ति-चरित्रोंकी रचनामें रही है, टाइप-चरित्रोंकी रचना में नहीं। उन्होने स्वयं कहा है -- "मेरी रूचि व्यक्ति में रही है।"[30] डॉ॰ ओम प्रभाकर के शब्दों में "प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों के कथानक वस्तुत: लम्बाई - चौडाई में सीमित होकर गहराई में असीम हुए हैं।"[31] कथानक की यह विशेषता हमें अज्ञेयमें परिपूर्ण मात्रामें मिलती है। "शेखर : एक जीवनी" (प्रथम खण्ड - 1941, द्वितीय खण्ड - 1944) तथा "नदी के द्वीप" (1951) उनके आलोच्य कालके उपन्यास है। डॉ॰ भोलाभाई पटेल के शब्दोंमें "शेखर : एक जीवनी" हिन्दीका प्रथम "आधुनिक" उपन्यास है और उसका नायक शेखर हिन्दी उपन्यासों के नायकों की श्रेणीमें आधुनिकताका प्रथम प्रतिभू।"[32] अज्ञेय के उक्त दोनों उपन्यास मानव मनकी मूलभूत प्रवृत्तियों -- अहं और सेक्स -- से जुड़े हुए हैं। "शेखर" की भूमिका का प्रथम वाक्य है -- "वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है वे द्रष्टा हो सकते हैं।"[33] और "नदी के द्वीप" के अग्र-भागमें जो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं, वे इस प्रकार हैं -- "दु:ख सबको मांजता है / और / चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना व न जाने / किन्तु -- / जिनको मांजता है / उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"[34] अज्ञेय के उक्त दोनों कथन यह प्रतिपादित करते हैं कि उनके उपन्यासोंका मूल श्रोत भी मानव-वेदना ही है। "नदी के द्वीप" के सम्बन्ध में डॉ॰ भोलाभाई पटेल ने लिखा है -- "हिन्दी उपन्यास

साहित्यके प्रथम पर्याय की उपलब्धि यदि प्रेमचन्दका गोदान है, तो गहरी अन्तर्दृष्टि, आस्था समन्वित आधुनिक संवेदना और सजग शिल्पविधि से हिन्दी उपन्यास साहित्य के दूसरे पर्याय की उपलब्धि "नदी के द्वीप" है"।[35] डॉ॰ देवराजके उपन्यासों में "पथकी खोज" ‹1951›, "बाहर-भीतर" ‹1954›, "रोड़े और पत्थर" ‹1958›, "अजय की डायरी" ‹1960› आदि मुख्य है, जिनमें शिक्षित बुद्धिजीवी वर्गकी कुण्ठाओंका चित्रण मिलता है । आलोच्यकाल के अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत "सोया हुआ जल" ‹1955›, सूर्यकुमार जोशी कृत "दिगम्बरी" ‹1957›, राजेन्द्र यादव कृत "कुलटा" ‹1958›, धर्मवीर भारती कृत "गुनाहोंका देवता" ‹1946›, नरेश मेहता कृत "डूबते मस्तूल" ‹1954› और "दो एकान्त" ‹1955›, गिरधर गोपाल कृत चाँदिनी के खंडहर, रघुवंश कृत "तंतुजाल" ‹1958›, प्रभाकर माचवे कृत "परन्तु" ‹1941› और "साँचा" ‹1956› आदि उल्लेखनीय है ।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि उपन्यासों में मानव-जीवन की समस्याओंका निरूपण उसके प्रारंभिक काल से ही मिलता है । प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-युगके औपन्यासिकों में यह प्रवृत्ति सविशेष मिलती है । प्रेमचन्दोत्तर युगमें मानव-जीवन की समस्याओंका निरूपण एक विशिष्ट दृष्टि ‹मार्क्सवादी› या मनोवैज्ञानिक› से भी हुआ है । अब हम नगरीय परिवेश के उपन्यासों ‹सन् 1960 से 1980› पर एक दृष्टिपात करेंगे । यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि प्रस्तुत काल-खण्ड के भीतर हजारों उपन्यास उपलब्ध हो सकते हैं जिनका परिवेश नगरीय हैं, किन्तु हमने केवल उन्हीं उपन्यासोंको लिया है जिनका औपन्यासिक कलाकी दृष्टि से साहित्यिक महत्त्व है ।

वर्गीकरण

पहले कहा जा चुका है कि प्रस्तुत प्रबन्धमें सन् 1960 से लेकर सन् 1980 तक के लगभग 21 वर्षों के नगरीय परिवेश के उपन्यासों में मानव-जीवनकी समस्याओंका अध्ययन दिया जा रहा है । अध्ययनकी सुविधाके लिए हम उन्हें तीन भागों में विभाजित कर रहे हैं । पहले उन उपन्यासोंकी चर्चा की है । जिनका परिवेश सौ प्रतिशत नगरीय है । "सारा आकाश", "अजयकी डायरी", "अन्धेरे बन्द कमरे", "अन देखे अनजान पुल", "शहर में घूमता आईना". किसलिए", "प्रश्न और मरीचिका", "टोपी शुक्ला", "नंगा शहर", "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई", "आपका बण्टी", "चित्तकोबरा", "वेदिन", "मुरदाघर", "रेखा", "कथा-सूर्यकी नयी यात्रा", "सूरजमुखी अँधेरे के", "मछली मरी हुई", "एक कटी हुई ज़िन्दगी", "एक कटा हुआ कागज", "लौटती लहरोंकी बासुरी", "अपने अपने अजनबी", "मेरी तेरी उसकी बात", शहीद और शोहदे", "एक पंखडीकी तेज धार", "बैसाखियोंवाली इमारतें", "अठारह सुरज के पौधे", "पचपन खंभे लाल दीवारें", "रूकोगी नहीं... .. राधिका?", "डाक बंगला", "तीसरा आदमी", "अन्तराल", यात्राएँ", "कृष्णकली", "एक चूहे की मौत", "कुरू कुरू स्वाहा", "यह भी नहीं," "प्रभृति उपन्यास इस कोटि में आयेंगे । दूसरे विभाग में उन उपन्यासोंको लिया गया है जिनमें ग्रामीण एवं नगरीय वातावरण का मिश्रण उपलब्ध होता है । "नदी फिर बह चली", "यह पथ बन्धु था", "साँप और सीढ़ी", "काला जल", "उग्र तारा", "इमरतिया", "रागदरबारी", "काँचघर", दिल एक सादा कागज़", "सबहिं नचावत", "महा भोज", "राम गोसाईं" आदि उपन्यास इसमें आते हैं । तीसरे विभाग अन्य उपन्यास- के अंतर्गत

उन नगरीय परिवेशके उपन्यासोंकी संक्षिप्त चर्चा है जिनका उल्लेख उक्त दोनों विभागों में नही हुआ है ।

सारा आकाश (1960)

आधुनिक पीढ़ीके सशक्त हस्ताक्षर राजेन्द्र यादव के लिए यह उपन्यास तीसरा भी है और पहला भी, क्योंकि सन् 1952 में "प्रेत बोलते हैं" नाम से यह प्रकाशित हुआ था, किन्तु किन्हीं कारणोंसे तब अधिक चर्चित नहीं हुआ था । वस्तुत: राजेन्द्र यादव "उखड़े हुए लोग" से उपन्यासकारके रूपमें प्रतिष्ठित हुए । उपन्यासका नामकरण दिनकरजीकी दो काव्य - पंक्तियोंके आधार पर हुआ है --

"सेनानी, करो प्रयाण अभय, भावी इतिहास तुम्हारा है,

ये नखत अमाके बुझते हैं, सारा आकाश तुम्हारा है ।"

उक्त पंक्तियाँ सन् बयालीस की हैं,[36] और तब उनकी सार्थकता भी थी, प्रस्तुत उपन्यासमें उसकी निरर्थकता ही व्यंजित हुई है । स्वयं लेखक के शब्दोंमें "सारा आकाश की ट्रैजेडी किसी सन् समय या व्यक्ति विशेषकी ट्रैजेडी नही खुद चुनाव नकर सकने की, दो अपरिचित व्यक्तियों को एक स्थितिमें झोंक कर भाग्यको सराहने या कोसने की ट्रैजेडी है, संयुक्त परिवारमें जब तक यह "चुनाव" नहीं है, सँकरी और गन्दी गलियोंकी खिड़कियोंके पीछे लड़कियाँ "सारा आकाश" देखती रहेंगी, लड़के दफ्तरों, पार्कों और सड़कों पर भटकते रहेंगे, एकांत आसमान को गवाह बनाकर अपने आपसे लड़ते रहेंगें । दो नितांत अकेलों की यह कहानी तब तक सच है, जब तक उनके बीचका समय रूक गया है ।"[37] मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार, उसके संस्कार तथा रूढ़ियोंकी

भठ्ठी में तपते समर और प्रभाके दाम्पत्यकी यह कहानी वस्तुत: संयुक्त परिवारके आपसी तनाव, टूटन, घुटन, यातना और यंत्रणा से उत्पन्न विकृतियोंकी कहानी है । समर को केन्द्रमें रखकर सम्मिलित परिवारकी बुराईयों पुरानी मान्यताओं, रूढ़ियों और जड़ संस्कारोंके प्रति इसमें आधुनिक जीवन-दष्टिका संघर्ष चित्रित हुआ है । सारा आकाश की प्रस्तुति दो खण्डों हुई है -- पूर्वार्द्ध "साँझ" है और उतरार्द्ध "सुबह" । पूर्वार्द्ध की कथा समर की शादीसे प्रारंभ होकर, पति-पत्नीकी विसंवादी स्थिति और अंत में दोनोंके मिलन तक चलती है । प्रभा-समर की विसंवादी स्थितिका अंकन विस्तार से हुआ है । दूसरे खंडमें इस नियतिसे उबरनेका संघर्ष है । प्रभा-समर के जीवन में आये इस बदलाब के लिए लेखकने दिवाकर और शिरीषभाई के पात्रोंका सृजन किया है । शिरीषभाई तो रचनाकार के प्रवक्ता के रूपमें ही आये हुए प्रतीत होते हैं । वस्तुत: "सारा आकाश" मध्यवर्गीय सामाजिक चिंतन के विपरीत वैयक्तिक विचारधारा के संघर्षका ही उपन्यास है । एक स्थान पर शिरीष अपने मित्र समर को कहता है -- "संयुक्त परिवारका शाब्दिक अर्थ चाहे कितना ही महान हो, उसका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि परिवारका कोई सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता । सारा समय या तो समस्याएँ बनाने में या बनी-बनाई समस्याओं को सुलझाने में लग जाता है । लड़ाई - झगडा, खींचतान, बदला, ग्लानि, सब मिलकर वातावरण ऐसा विषैला और दमघोंट बना रहता है कि आप साँस न ले सकें ।"[38] अत: यह कहा जा सकता है कि "सारा आकाश" का समर व्यक्ति - स्वातंत्र्य से उद्भूत होकर सांस्कारिक प्रेतों से मुक्ति पाना चाहता है -- "जिन्दगी की किसी भी कारा में, किसी भी बंधन में हम

चुप नहीं रह सकते । हम कलमों में उतरेंगे, दिमागों पर छायेंगे और नसों में तैरेंगे । हम निरंतर माँग करते रहेंगे । हमें नये शरीर दो, हमें नया रूप दो, हम इन कष्टों में नहीं रहेंगे, हम निराधार नहीं भटकेंगे ।"[39]

अजय की डायरी (1960)

डॉ॰ देवराज हिन्दी के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार है । "अजय की डायरी" एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें अधिकांशत: डायरीके शिल्पका प्रयोग किया गया है । अजय एक नास्तिक, स्वकेन्द्रित, बुद्धिवादी मध्यवर्गीय युवक है । वह अपनी पत्नी शीलासे असंतुष्ठ है और एक अन्य कुमारी हेमकी की और आकृष्ट है । वह हेम के प्रति अपने प्रेमको नैतिक, धार्मिक एवं व्यावहारिक स्तर पर औचित्य प्रदान करता है । डॉ॰ रामदरश मिश्र के शब्दोंमें उसमें मध्यमवर्गीय कायरता है । वह प्रेममें भी कायर है । वह विदेश भाग जाता है और वहाँसे लौटने पर पत्नी और प्रेमिका दोनों से हाथ धो बैठता है । अजय तथा अन्य कई युग्मों के माध्यमसे लेखक ने मध्यम वर्गके खोखले प्रेम-सम्बन्धोंका उद्घाटन किया है । प्रेम-सम्बन्धके अतिरिक्त मध्यवर्गीय परिवेश के अन्य अनेक प्रश्नों को उठाया गया है, किन्तु केन्द्र में तो प्रेम-सम्बन्धोंकी संवेदना और सोच ही है । और सबके केन्द्रमें अजय है । डॉ॰ देवराज दर्शन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में अच्छे विचारक है इसलिए उनके लेखन में आधुनिक चिंतन के बहुत सारे सूत्रोंके दबाव लक्षित होते हैं और ये दबाव उनके सर्जनात्मक लेखन को काफी हद तक आहत करते हैं ।"[40] प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखरित हुआ है । उपन्यासका नायक अजय तो व्यक्ति से पृथक् मानवताको निर्जीव

मानता है -- "मैं मानवता को नहीं मानता, मैं सिर्फ व्यक्ति को पहचानता हूँ - व्यक्ति से ही संपर्क बनता है । मैं मानवताके लिए नहीं जी सकता । मानवता झूठ है, छलना है, मानवता समाज है -- निर्मम, निरूद्वेग, निष्ठुर । मानवताके हृदय नहीं है, उसके आँसू नहीं निकलते, वह कभी संवेदना से द्रवित नहीं होती ।"[41] अजय में यह व्यक्तिवाद इतने बढ़े-चढ़े रूपमें मिलता है कि अमेरिका से लौटने पर पत्नी शीलाको गर्भपातकी स्थिति में पकार भी उसे दोषी नहीं मानता । स्त्री-पुरूष सम्बन्धों में दोहरी मान्यताओंका वह विरोधी है -- "मुझसे शीलाके अपराधका विश्लेषण करते नहीं बनता । जो अपराध मुख्यत: एक लीक से बाहर जानेका रूप है, उसका बहाना लेकर दंडित करना मुझे भयंकर कायरता जान पड़ती है ।"[42]

अन्धेरे बन्द कमरे (1961)

नयी पीढ़ीके अग्रणी नाटककार एवं कथाकार मोहन राकेश आधुनिक नगरीय परिवेशके नाना आयामोंको उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने और रूपायित करने में सफल हुए हैं । "अंधेरे बन्द कमरे" आधुनिक भाव बोध से युक्त एक बहुचर्चित उपन्यास है । डॉ॰ कुसुम वार्ष्णेय के मतानुसार मोहन राकेशका यह प्रथम उपन्यास सातवें दशक के नये आयामोंको खोलनेकी गवाही देता है । इसमें पहली बार स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्धों और तनावों को भरपूर खुली आँख देखने की कोशिश की गई है ।[43] श्रीकान्त वर्माने प्रस्तुत उपन्यास के संगठन में कुछ दोष बताए हैं, जैसे कि इसमें ड्राइंग-रूम और सड़क का एक साथ चलना ।[44] ड्राइंग-रूम हरबंस, नीलिमा तथा उनके वर्तुल का "सोफेस्टीकेटेड" समाज है, तो सड़क दिल्लीकी निम्न वर्गीय

कस्साबपुरा आदिकी ज़िन्दगीका चित्र है । किन्तु निम्नवर्गीय जिन्दगीका यह चित्र महानगरीय जीवनकी इस विसदृशता को व्यंजित करता है कि न केवल इन लोगोंकी ज़िन्दगी खोखली है, बल्कि उनके सुख और दु:ख भी खोखले हैं । दु:ख किसे कहा जाता है, शायद वे जानते नहीं । इनका दु:ख कई बार एक रोमानी खयाल मात्र होता है ।

वस्तुत: इस उपन्यास में आधुनिक जीवन की घुटन, उब, संत्रास, एकरसता आदिको तीव्रताके साथ व्यंजित किया है । हरबंस और नीलिमा के दाम्पत्य जीवनकी दरारों को उकेरनेका एक कलात्मक अभिगम यहाँ मिलता है । हरबंस और नीलिमा के सामने कोई आर्थिक समस्या नहीं है । यह स्त्री-पुरुषके "अहं" की टकराहटकी वास्तविक परिणति है । आधुनिक शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता तथा स्त्री-स्वतंत्रता के खयालोंने जहाँ स्त्रीको एक उच्च भूमिका प्रदान की है, वहाँ उसे पति, परिवार और अपने से भी तोड़ा है । स्त्रीका स्वतंत्र व्यक्तित्व पुरुषको लुभाता है, किन्तु शताब्दियों से संचित "अहं" एवं "एकाधिकार" की भावना का वह सर्वथा त्याग भी नहीं कर सकता । यहाँ हरबंस नीलिमा को पहले अल्ट्रा माडर्न बनाना चाहता है और बादमें इस अल्ट्रामाडर्न बीबीको अपने वशमें रखना भी चाहता है । यह परस्पर विरोधी है । बादमें उसे सब मिसीव प्रकृतिकी नीलिमाकी बहन शुक्ला अच्छी लगती है । प्राप्त के प्रति विरोध, उब और असंतोष भी आधुनिक युगका एक लक्षण है । एक स्थान पर नीलिमा हरबंस से कहती है -- "तुम सिर्फ इस हीन-भवना के शिकार हो कि लोग मुझे तुमसे ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरेविषय में होती है । तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा के पतिके रूपमें करते हैं ।"[45]

मधुसुदन जो एक पत्रकार है, उपन्यासमें "नेरेटर" के रूपमें आया है । उपन्यासका प्रथम भाग उसका दुबारा दिल्ली आनेसे पूर्व के नौ वर्षोंकी स्मृतियों से बना है, द्वितीय भागमें हरबंस और नीलिमा टुकडे-टुकडे अपनी विदेश यात्राकी कथाको कहते हैं और तृतीय चतुर्थ भागमें हरबंस और नीलिमाके दाम्पत्य में पड़नेवाली दरारोंको विकसित होते बताया है । इस प्रकार हरबस-नीलिमा, शुक्ला, मधुसुदन-सुषमा निम्मो, शुक्ला - सुरजीत जैसे पात्रोंकी पृष्ठभूमि में लेखकने पार्टियाँ, काफी-हाउसोंकी बहसें, साँस्कृतिक डेलगेिशन, पत्रकारिता तथा उसके हथ कण्डे, भौतिकताकी दौड़ में पत्नी को साधनरूप बनाना जैसे महानगरीय जीवन के विभिन्न आयामोंको उद्घाटित किया है ।

<u>अपने अपने अजनबी {1961}</u>

पिछले दो उपन्यासोंकी भाँति अज्ञेयजीका यह उपन्यास भी हिन्दी साहित्यमें बहुचर्चित रहा है । जहाँ डॉ॰ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जैसे आलोचक "हिन्दी उपन्यास " उपलब्धियाँ" में इसका उल्लेख तक नहीं करते, वहाँ डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान, डॉ॰ बच्चनसिंह, डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आलोचक इसे उपन्यासकी एक उपलब्धि मानते हैं । डॉ॰ हेमन्द्र जैन के मतानुसार "उपन्यास में अन्तर्विहित चेतना प्राच्य और पाश्चात्य जीवन - दृष्टियोंके समीकरण को आधार बना सके तो यह कहा जा सकता है कि कामू के "अजनबी" {The out - sider} और हेमिंग्वे के "सागर और मनुष्य" {The old man and the sea} की भाँति यह उपन्यास भी हिन्दी का प्रथम श्रेणीका उपन्यास बनने की क्षमता रखता है।"[46] अज्ञेयजीके तीन उपन्यास क्रमशः मानव-मन-की तीन मूलभूत प्रवृत्तियों -- अहं, सेक्स

और भय - से जुड़े हुए हैं। भयकी भावना मुख्य: मृत्यु-बोध से सम्बन्ध है जो अस्तित्ववादी दर्शन के केन्द में है। अस्तित्ववादी दर्शन के कुछ संकेत तो हमें "नदी के द्वीप" में ही मिल जाते हैं, परन्तु "अपने अपने अजनबी" तो एक प्रकार से मृत्युबोधका ही आख्यान है। उपन्यास के तीनों पात्र -- सेल्मा, योके, यान -- पूरे उपन्यासमें मृत्यु-गन्ध से आक्रान्त हैं।

प्रस्तुत उपन्यासका भौगोलिक परिवेश तो पहाडों में बर्फ के नीचे दबा हुआ काठघर है, किन्तु उसके पात्र नगरीय जीवन तथा उसकी मानसिकता से जुड़े हुए हैं। उपन्यासके तीन भाग हैं -- "योके और सेल्मा", "सेल्मा" और "योके"। प्रथम भाग योके की डायरी द्वारा, द्वितीय भाग सेल्माकी स्मृति द्वारा और तृतीय भाग पुन: योके द्वारा प्रस्तुत हुआ है। योके और सेल्मा बर्फ के नीचे दबे काठघर में फँस जाते हैं। वहाँ से बचकर निकल जानेका कोई रास्ता नहीं है। मृत्यु अवश्यंभावी है। प्रतिक्षण मृत्यु नजदीक आ रहा है। इस आते हुए मृत्युको योके और सेल्मा देखते हैं। मृत्यु के इस साक्षात्कार का प्रभाव लेखकने दोनों पर दिखाया है।

अस्तित्ववाद के अनुसार जीवन की तीव्रतम अनुभूति मृत्यु के साक्षात्कार के क्षणों में होती है, अत: अस्तित्ववादी साहित्यकार अपने कथानक के चयन में ऐसी स्थितियों का निर्माण जान-बूझकर करता है। प्रस्तुत उपन्यासमें टूटे हुए पुल परका दृश्य तथा वर्फ के नीचे दबे काठघर में सेल्मा और योकेका प्रति पल मृत्यु की आहट के सुनना इसके उदाहरण हैं। अस्तित्ववादी दर्शनका जन्म किन्तदो-दो विश्वयुद्धोंकी विभीषिकाओं तथा औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा आधुनिकीकरणकी प्रक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति के निरन्तर अकेले होते जानेकी छटपटाहट के कारण हुआ है। पश्चिमकी भौतिकवादी-भोगवादी दृष्टिने मृत्यु की भयावहताको अनेक गुना बढ़ा दिया है।

HANSA MEHTA LIBRARY UNIVERSITY OF BARODA

सेल्मा कैन्सरग्रस्त है । काठघरमें कैद होनेके बावजूद उसका क्रिसमस मनाना, गीत गाना, नये वर्षकी मुबारक बाद देना, निर्जीव वस्तुओं को दुलारना - असीसका आदि क्रियाओंसे योके चिढ़ जाता है, क्योंकि कैन्सरग्रस्त वृद्ध जर्जर शरीरवाली सेल्मा के लिए मृत्यु अभिशाप न होकर वरदान ही सिद्ध होगा, जबकि दूसरी ओर योके के सामने पूरी ज़िन्दगी पड़ी है । अत: मृत्यु-बोधसे उसका बुरी तरह से आक्रान्त होना स्वाभाविक ही है । सेल्मा में आत्म केन्द्रित अहंवादिता एवं क्षुद्र स्वरथी वृत्ति के दर्शन भी होते हैं । टूटे हुए पुल परके मृत्यु-ताण्डव में यानका चरित्रोद्घाटन हुआ है । योके और सेल्माकी तुलनामें यानका चरित्र भारतीय दृष्टिके अधिक अनुकूल है । सेल्मा मृत्यु में ही ईश्वरका साक्षात्कार करती है -- "हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अंतिम, चरम और सम्पूर्ण अमोथ नकार - जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और कोई न आगे जवाब ही -- इसलिए तो मौत ही तो ईश्वरका पहचाना जा सकनेवाला रूप है -- पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर ज्ञान है ।"[47] सेल्मा की मृत्यु के उपरान्त योके को सर्वत्र इस मृत्यु गंध का आभास होता है । मृत्यु के प्रति यह धृणात्मक दृष्टिकोण अस्तित्व बोध से प्रेरित स्थिति है ।

पचपन खम्भेलाल दीवारें (1961)

नारी जीवनकी यथार्थ - स्थितियोंका आकलन एवं संघर्ष विशेषत: उषा प्रियंवदा व मन्नू भण्डारीमें मिलता है । प्रस्तुत उपन्यासमें नारी के आर्थिक-नैतिक शोषणका एक नया कोण उभरा है । उपन्यासकी नायिका सुषमा एक शिक्षित आधुनिक नारी है । सुषमाके पिता एक साधारण मध्यमवर्गीय नौकरी पेशा व्यक्ति थे । सुषमा पढ़ने में प्रारंभसे ही असाधारण

रूपसे तेज़ थी, अत: उसके पिता के अंतर्मन में यह बात जरूर रही होगी कि तीन साल बाद जब वे निवृत हो जायेंगे तब परिवार का आर्थिक आधार वही बन सकती है । अत: उसकी शादी में अधिक दिलचस्पी नहीं लेते । उसकी कृष्णा मौसी उसे जब-तब सावधान करती है, किन्तु तब तक सुषमा स्वयं ही अपनी क्रूर निर्मम नियति को अँगीकृत कर लेती है क्योंकि उसके पिता पक्षाघातके शिकार हो जाते हैं और माँ, भाई और दो बहनों के साथ समूचे परिवारकी जिम्मेदारी उस पर आ जाती है । वह लड़कियोंके कोलेज में इतिहास की व्याख्याता और साथ ही लड़कियों के होस्टेल की वार्डन बन जाती है ।

उपन्यास का प्रारंभ पूर्व-दीप्ति शैली (**Flash back style**) में होता है । सुषमा को लगता है कि नील उसके सिरहाने खड़ा है । वह चौंक कर उठ बैठती है और वहींसे प्रारंभ होता है अतीत की स्मृतियोंका एक सिलसिला । नील मौसी द्वारा भेजी गयी साड़ियाँ देने आया था । यह परिचय धीरे-धीरे परिणय में बदल जाता है । प्रारंभ में सुष्मा कुछ खिंचती है, पर फिर अनायास उस मोहक-मादक बहाव में बहने लगती है । उसका यह मोहाकर्षण तब फटता है जब बदनामी के कारण नौकरी के अस्तित्वका प्रश्न उपस्थित होता है । एक स्थान पर तो नील सुषमा के परिवारका आर्थिक बोझ उठानेके लिए भी तैयार हो जाता है, किन्तु सुषमा का स्वाभिमान उसके लिए तैयार नहीं होता । सुषमाको समझानेकी नीलकी सारी कोशिशें असफल रहती है और अन्तत: नील विदेश चला जाता है । नीलके विदेश जाने पर सुषमा बुरी तरह से टूट जाती है । अपने भविष्यकी भयंकर परछाइयोंका आभास उसे मिल चुका है । सहेली मीनाक्षी से वह कहती है -- "पैंतालीस सालकी आयुमें मैं भी एक कुत्ता या बिल्ली पाल लूँगी - उसे सीने से लगा

रखूँगी ...... आज से सोलह साल बाद शायद तुम अपनी बेटीको लेकर इस कोलेजमें आओ, तब भी तुम मुझे यहीं पाओगी । कोलेज के पचपन खम्भोंकी तरह स्थिर, अचल .... ।"[48] अत: कह सकते हैं कि यहाँ अकेलेपन की पीड़ा, घुटन और उबका चित्रण भारतीय परिवेशकी मध्यवर्गीय विवशताओं के बीच हुआ है ।

बड़ी चम्पा, छोटी चम्पा (1961)

लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा लिखित यह लघु उपन्यास वेश्या-जीवनकी एक समस्याको बहुत मार्मिकता के साथ उभारता है । गोरखपुर में स्थित वसंतपुरकी वेश्याओंको अचानक आदेश मिलता है कि वे वसंतपुर को खाली कर दें और बस्ती में जहाँ चाहे चलकर अपनी नयी जिन्दगी शुरू करें । किसी सुनिश्चित योजना के अभाव में वेश्याएँ बीच-बीच में उतरकर पुन: गोरखपुर लौट आती हैं और पूरे शहर में फैल जाती हैं । पूरा शहर ही मानो वेश्यालय हो जाता है । इनमें से बड़ी चम्पा जैसी कुछ वेश्याएँ अपने प्रेमियों से शादीकर एक सम्मानित जीवन बिताना चाहती हैं । पर क्या वे उस सम्मानित गृहिणी-पदको प्राप्त कर सकती हैं ? बड़ी चम्पाका पति फूलबाबू उसे वेश्या ही समझता है । उसके व्यवहार में - सोचमें कोई अन्तर नहीं पाया जाता । इस द्वन्द्व में वह बेचारी पिसकर एक दयनीय विवश मृत्युका भोग बनती है । इसके विपरीत छोटी चम्पा पत्नी बनाने के सारे प्रस्तावोंको ठुकरा देती है । वह वेश्या है और वेश्यारूप में ही रहना चाहती है । समाज एवं धर्मके ढकोसलोंके प्रति उसके मनमें गहरी वितृष्णा है । अत: इन सबके प्रति एक विद्रोह का स्वर उसमें मिलता है । वह अपने

वेश्याधर्म को पतिव्रता धर्मसे अधिक पवित्र और गौरवपूर्ण मानती है । अत: महंत सतीनाथ और उनके गुरू के समस्त झूठे धार्मिक अनुशासनों और आडम्बरपूर्ण विश्वासों को चुनौती देती हुई अहिल्याकी पूजा करती है । दूसरी और गुरू गंगानाथ द्वारा पूजित गोरखनाथ का चिमटा है, किन्तु अनेक विरोधों के बावजूद छोटी चम्पा अहिल्या की मूर्ति को ही पूजती है ।

यह सच है कि वेश्यालय समाज के लिए अभिशाप है । किन्तु स्त्रीको वेश्या बनने पर विवश करनेवाली समाज-व्यवस्था, स्त्रीके प्रति पुरूषके भोगवादी दृष्टिकोणको बदले बिना वेश्या-उन्मूलन की प्रवृति बेमानी है । वेश्याओंके जीवन-निर्वाह और स्वस्थ-सामाजिक विकास की मूर्त योजना के अभाव में इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता ।

<u>शहर में घूमता आईना (1963)</u>

उपेन्द्रनाथ अश्क के "शहर में घूमता आईना" में "गिरती दीवारें" के चेतन को स्मृति-रूपमें पकड़नेका प्रयास है । वस्तुत: चेतन ही वह आईना है जिसमें पंजाबके एक शहर जालंधरका प्रतिबिंब दिखाया है । इसमें लेखकने मध्यवर्गीय जीवन के विकृत एवं धिनौने रूपको लिया है । डॉ• मक्खनलाल शर्मा के शब्दों में, "जिस समाजका यहाँ चित्रण है, वह यौन भुक्खड़ों, दम्भियों, बौनों, कायरों, मिथ्याभिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुत्तरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखेबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों, आदि का है ।"[49]

उपन्यास के समर्पण में लेखकने लिखा है -- "जो लोग सबकुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा जो कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यासमें बहुत-कुछ नहीं है । यह केवल बीचके लोगोंके लिए है ।"[50] अत: स्पष्ट है कि उपन्यास

इसी मध्यमवर्ग को लेकर चलता है । उपन्यास के नायक चेतनका व्यक्तित्व "मध्यमवर्गीय शुतुरमुर्ग" का है । साली नीलाको वह चाहकर भी पा नहीं सकता, क्योंकि पत्नीके प्रति वफादारीके नाटक को झुठ लाना उसके मध्यवर्गीय संस्कारोंके विरुद्ध है । आदर्शवादिता एवं मध्यवर्गीय संस्कारोंकी इस झोंके में वह नीलाका विवाह एक अधेड़, भद्दे, भैंड़े, एकाउन्टेन्ट से करवा देता है, परन्तु अचेतन में बैठी हुई नीला से वह कभी उबर नहीं सकता । फलत: उसकी कुण्ठित मानसिकता केवल उन्हीं प्रतिबिम्बोंको खींच पायी है, जो यौनक्षुधा से पीड़ित, अस्वस्थ या पागल हैं । बद्या रामदित्ते, चूनी, फाल्गुराम, जगत् आदि ऐसे ही दमित काम-वासना के शिकार हैं । उपन्यास में समलैंगिक मैथुन (Homo sexuality)[51] के भी कतिपय उदाहरण मिल जाते हैं ।

चेतन की दूसरी कुण्ठा आर्थिक अभावों को लेकर है । आर्थिक अभावोंसे पीड़ित एवं पिछाड़ा हुआ व्यक्ति "हीनता-ग्रंथि" का शिकार अवश्य हो जाता है । एक समयका मेधावी एवं प्रतिभा संपन्न चेतन जब देखता है कि पढ़ने में कम तेज़ ऐसे हम्मीद, अमीरचन्द, लालू बनिया, अमरनाथ आदि क्रमश: रेडियो-स्टेशन प्रोग्रेम आसिस्टेण्ट, डिप्टी-कलक्टर, सिगरेटों के सबसे बड़े एजन्ट तथा लेखक हो जाते हैं तब उसके हृदय की तिक्तता एवं कटुता बढ़ जाती है -- "अमरनाथ जिसे स्कूल में लेखक के नाते कोई जानता ही न था, साहिबे किताब हो गया, और वह जो अपने आपको कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार और न जाने क्या-क्या समझता था, यों ही लण्डूरा घूमता है ।"[52]

संक्षेपमें ,स्तुत उपन्यास में लेखकने चेतनके माध्यमसे एक बौने, अपाहिज कुण्ठित समाजको चित्रित किया है । इस पर व्यंग्य करते हुए डॉ• त्रिभुवनसिंह ने ठीक ही कहा है -- " "आईने" की अपनी सीमा होती है, वह उतना ही ग्रहण कर सकता है, जितना देख पाता है । उसी प्रकार लेखक की भी अपनी सीमा है, वह उतना ही कह पाया है जितना कि उसने अपनी एक विशेष मन:स्थिति में देखा है ।"[53]

अन देखे अनजान पुल (1963)

"सारा आकाश" के लेखक राजेन्द्र यादवकी इस रचनामें एक अनछुपी समस्याको उजागर किया है । कुरूपतासे उत्पन्न हीनता - बोध ही उपन्यासका मूल सूत्र है । उपन्यास की नायिका निन्ती एक बहुत ही सामान्य-सी दीखनेवाली काली-कलूटी व कुरूपा लड़की है । उसके पिता मध्यम वर्ग के सामान्य-सी हैसियतवाले आदमी है, अत: ऐसी लडकी के विवाह के लिए दहेज की बड़ी रकम नहीं जुटा पाते । अपनी कुरूपता के कारण वह न किसीकी पत्नी ही बन सकती है न प्रेयसी ही । उसके अन्य भाई-बहन कुरूप नहीं थे । अत: बचपन से ही लघुता-ग्रंथिके बीज उसकी मानस-भूमिमें पड़ जाते हैं । आगे चलकर समाज एवं परिवेश से प्राप्त अवज्ञा एवं उपेक्षा से उत्पन्न कटुता इस ग्रंथिको और भी विकसित करती हैं । कोलेज में भी छात्र-छात्राएँ उसे "कल्लोपरी"[54] कहकर चिढ़ाते हैं । अपनी इस कुरूपताको दूर करनेकी हर संभव कोशिश वह करती है, किन्तु अन्त में हार मानकर इस कटु सत्यका वह स्वीकार कर लेती है कि दुनिया में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है --

"न वह साँवरी थी, न मीरा, न शबरी, न अहल्या, बस दु:खी, हताश, थकी-माँदी, टूटी-फूटी आत्मा थी, जो शांति माँगती थी ।"[55]

बैजल और सागर से प्राप्त पुरूष - स्पर्श के अनुभव उसमें कुछ विकृतियाँ भी जगाते हैं । बैजल अनजाने में उसे स्पर्शता है और सागर जान-बूझकर । बैजल संध्या नामक एक युवतीको चाहता है । किसी रिश्तेदार के यहाँ में निन्नी म्यानीसे पत्तल निकालने जाती है तब अंधेरे में बैजल उसे संध्या समझकर अपने बाहुपाश में कसते हुए कई गरमा गरम चुंबन दे देता है । इस अनुभवसे सौन्दर्यहीनता के कारण उठाने पडते हानि-बोध का उसे ज्ञान होता है और तब उसकी यंत्रणा एवं छटपटाहट भी अनेक गुना बढ़ जाती हैं । पड़ोस में रहनेवाले त्रिपाठीजीका भतीजा सागर चौपड़ खेलने के बहाने से जब-तब उसके शरीरको छू लेता है । सागर के लिए वह केवल मन-बहलावका उपकरण मात्र था, अत: उसके इस व्यवहारसे उत्पन्न भ्रमके कारण निन्नी एक बार जब उससे क्रीम की शीशीका अनुरोध करती है तब सागर "छछूंदर के सिरमें चमेली का तेल"[56] कहकर उसका क्रूर उपहास करता है ।

निन्नीका दिल टूट जाता है, किन्तु पुरूष-स्पर्शके यह अनुभव उसमें कुछ कुत्सित वृत्तियोंको जन्म देते हैं । अब वह पुरूष-स्पर्श की प्राप्ति हेतु नये-नये रास्ते खोजती रहती है । जान-बूझकर भीड़-भड़क्केमें जाना पसन्द करती है । अपने भाई के साथ दिल्ली नुमाइश देखने वह इसलिए जाती है कि उसने सुन रखा था कि दिल्लीकी बसोंमें खूब भीड़ होती है और इस बहाने लोग-बाग खूब शैतानियाँ करते हैं ।

निन्नी के इस हीनता-बोधका परिहार दर्शन द्वारा होता है । दर्शन उसके भाईका एक चित्रकार मित्र है -- भावुक, संवेदनशील एवं समझदार । उसका सहज खुला व्यवहार उसमें आशाकी एक दीप्ति प्रज्वलित करता है, किन्तु रात में यह जानकर कि वह विवाहित है, उसके स्वप्नोंका महल ढह

जाता है । निराश होकर वह आत्महत्या के विचारों में खोयी रहती है और ऐसे ही किसी दिन वह अपने जीवन का अन्त भी कर देती । किन्तु दर्शन उसे पुन: मिलता है और एक नये सौन्दर्य-बोधसे उसे परिचित कराकर उसमें जीवन के प्रति आस्था स्थापित करता है ।" अनुपात सुन्दरता नहीं है, अनुपातके पीछे से उद्भासित होनेवाला प्राण, प्रसन्न उत्साह और आस्था ही सौन्दर्य है .... मगर निन्नी, यह तुम्हारी नहीं, हम सबकी ट्रेजडी है कि हम सुन्दरता के उपादानोंको ही सुन्दर समझते है ...... मानते हैं कि ढले ढलाए अवयव .... नाक - नक्श ही सुन्दर है ।"[57]

इस प्रकार सौन्दर्य-विषयक नयी दष्टि प्रदान कर दर्शन चलते-चलते निन्नीके पपड़ाए सूखे होठोंको चूमता है । मानवीय संवेदना से युक्त यह चुंबन निन्नी में नवीन भावोन्मेष एवं आत्मविश्वासको जागृत करता है और वह पढ़ -लिखकर भारत सरकार के किसी कार्यालय में उच्च-अधिकारीके पदको प्राप्त कर लेती है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो निन्नी की लघुता ग्रंथिका शमन क्षति-पूर्ति के सिद्धान्तों के अनुसार प्रभुता प्राप्ति द्वारा ही हो सकता था और लेखक ने यही किया है ।

<u>कथा-सूर्य की नयी यात्रा {1964}</u>

"लोहेके पँख" तथा "नदी फिर बह चली" जैसे यथार्थवादी उपन्यासों के लेखक श्री हिमांशु श्रीवास्तवने प्रस्तुत उपन्यास में साम्प्रतिक हिन्दी साहित्यकी प्रवृत्तियों या कुप्रवृत्तियों पर फैण्टसी का प्रयोग करते हुए सशक्त व्यंग्य किया है । उपन्यासकी कथा वस्तु इस प्रकार है :

हिन्दी साहित्यके नवोदित लेखक नभदीप की मृत्यु होती है । स्वर्ग

में उसकी भेंट कथा-सूर्य प्रेमचन्द की आत्मा से होती है । साहित्यिक होने के कारण दोनों आत्माओं में तत्कालीन हिन्दी साहित्यकी गति विधियों पर चर्चा चलती है । नवोदित लेखक आत्माकी बातोंसे प्रभावित होकर प्रेमचन्दकी आत्मा दिल्ली, वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ, बम्बई आदि स्थानोंका विवरण करती है । साहित्य-सम्मेलनों, कवि-सम्मेलनों, गोष्ठियों, विश्वविद्यालय और उनके हिन्दी विभागों, प्रकाशकों आदिकी कार्यालयों तथा मूर्धन्य साहित्यकारों के भवनों पर प्रेमचन्द की आत्मा मँडराती रहती है । प्रेमचन्दजीने कुछ दिनों के लिए "अजन्टा मूवी टोन" बम्बई में भी काम किया था । अत: प्रेमचन्दजीकी आत्मा वहाँ भी जाती है और देखती है कि "नेताओं के नाम पर दर्जीकी दूकानें, होटल, लाण्ड्री आदि के नाम रखे गए हैं ।"[58]

कथा-सूर्य प्रेमचन्द्रकी आत्माकी इस नयी यात्रा के द्वारा लेखकने हमारे साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जीवनकी अनेक विसंगतियों का पर्दाफाश किया है । हिन्दी साहित्य, नयी कविता, साहित्यिक गुटबन्दियाँ, विद्या-क्षेत्रोंमें चलनेवाली राजनीति, हिन्दी के कई अन्य संस्थान, उन संस्थानों में हिन्दी के नाम पर चल रही धाँधली, हिन्दी के तथा कथित मूर्धन्य विद्वान और उनके महन्ती दरबार, उनके गुर्गे, प्रकाशकों और विद्वान-महन्तोंकी आपसी साँठ-गाँठ, बम्बईकी फिल्मी दुनिया, उसमें हिन्दीके लेखककी दयनीय स्थिति, हीरो, हीरोइन या हीरोइन के किसी चमचे के कहने पर कहानी तथा संवादों पर होनेवाले बलात्कार, गीत-लेखकों की भोंड़ी हरकतें, रेडिओ स्टेशन या आकाशवाणी के निर्देशकों के बंगलों पर भेंट - सौगात आदिका चढ़ाना, बंकिम के उपन्यासों के पुराने अनुवादों पर

से नये अंनुवाद लिखते लेखक महोदय आदि अनेक स्थितियों और यात्रों पर लेखकने एक व्यंग्यात्मक दृष्टिपात किया है ।

रेखा (1964)

भगवती चरण वर्मा कृत "रेखा" आजकी काम-जनित समस्याओं पर आधारित उपन्यास है । वस्तुत: वर्माजीमें प्रारंभ से ही दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं -- एक में वे पाप-पुण्यकी समस्याको विभिन्न मुद्राओं में रखते हैं जो "चित्रलेख" से प्रारम्भ हुई है, दूसरी के अनुसार वे राजनीतिक स्थितियों तथा वादों के आधार पर कथापट को बुनते हैं, "टेढे-मेढे रास्ते", "भूले बिसरे चित्र", "प्रश्न और मरीचिका" आदि इस प्रवृत्ति के उपन्यास हैं । समस्या यहाँ भी अनमोल विवाह की है, परन्तु निर्मला या "गबन" की रतन की भाँति यहाँ कोई आर्थिक या पारिवारिक विवशता नहीं है । यहाँ नायिका रेखा स्वयं आत्म-निर्णय की क्षमता रखती है ।

बीस वर्षीया अनिन्द सुन्दरी रेखा माता-पिता की इच्छा के विपरीत दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर प्रभाशंकर से विवाह-सूत्रमें बँधती है । प्रोफेसर प्रभाशंकर तिरपन साल के हैं, अत: रेखा भावुकता और श्रद्धातिरेक में उस "यंग प्रोफेसर" से शादी तो कर लेती है, परंतु उसकी जवा -वासना की प्यास प्रोफेसर से नहीं बुझ पाती । रेखा से पहले देवकी नामक एक विवाहित स्त्रीसे प्रोफेसरके सम्बन्ध थे और उसके सभी बच्चे लगभग प्रोफेसरके ही थे । देवकी का पुत्र युवा रमाशंकर जो दिखने में प्रभाशंकर जैसा ही था, जर्मनी जानेसे पहले प्रभाशंकर को मिलने आता है । रेखा उसका सब "शोपिंग" करा देती है । गाड़ीमें उसके निकट

बैठते समय एक अज्ञात आकर्षणका अनुभव उसे होता है और अनायास उसका हाथ उसके कन्धे पर चला जाता है । उसकी चेतना व विवेक इससे अधिक की इजाजत नहीं देते परन्तु उसकी मानसिक नैतिकता एवं पवित्रतामें एक छेद उस दिन अवश्य हो जाता है । उसके भाई अरूण के मित्र सोमेश्वर दयाल ने छेद को और बड़ा कर दिया और उसकी वासनाका अजस्र प्रवाह मानो फूट पड़ा । संयम और विवेकका बाँध टूट गया ।

सोमेश्वर से शारीरिक सम्बन्ध होने के बाद उसकी नैतिकता व विवेक में एक और वैयक्तिक परिमाण जुड़ता है और वह सोचती है कि आत्मा से पृथक् शरीरका भी निजी धर्म है और वासनाओं को कुचलकर कोरी भावनाओं में जीना खुलकर जीना कभी नहीं है । लेखक के अनुसार -- "शरीरका प्रतिनिधित्व करनेवाली चेतना, उसने जो-कुछ किया, उसका औचित्य साबित कर रही थी और उसके विवेक की आवाज़ धीरे-धीरे कमज़ोर होती जा रही थी ।"[59]

फलत: सोमेश्वर के पश्चात् एक के बाद एक पाँच पुरूष उसके जीवन में आते हैं -- शशिकांत, निरंजन कपूर, शिवेन्द्र धीर, मेजर यशवन्तसिंह और डॉ॰ योगेन्द्र मिश्र । शशिकांत उसे अचानक सांस्कृतिक कार्यक्रम में मिल जाता है । शरीर शरीरकी भूखको पहचान लेता है और दोनों की धनिष्ठता बढ़ जाती है । वह डॉ॰ प्रकाशशंकरका भूतपूर्व छात्र था और विदेश में भारतीय सचिवालय में किसी अच्छे पद पर काम करता था । निरंजनकपूर मिसेज चावलाकी पुत्री शीरींका भावी पति था पर मिसेज चावला के साथ खूब रंगरेलियाँ मनाता था । रेखा को शीरीं से सहानुभूति थी । अत: वह उसके भावी पति को उसकी माँ से छीन लेती है । मसूरी में वे दोनों खूब

राग-रंग खेलते हैं, पर निरंजन कपूर का सिगरेट-केस डॉ॰ प्रभाशंकर के तकिये के नीचे रह जाता है और उनकी चोरी पकड़ी जाती है । डॉ॰ प्रभाशंकर उत्तेजित होकर रेखाको घरसे निकाल देने को उद्यत हो जाते हैं, पर रेखा के अनुनय - विनय तथा क्षमा - याचना से कुछ पिघलते हैं और उसे मुआफ़ कर देते हैं । परंतु संदेह उनका पीछा नहीं छोड़ता और उस दिन से उनका चैनो - शकुन खत्म हो जाता है ।

रेखा अधिक दिन संयम नहीं रख पाती । उसकी अतृप्त वासना नये शिकार की टोह में निरंतर रहती है । हाँ, अब वह सतर्क अधिक रहती है । शिवेन्द्र धीर से वह आकर्षित होती है किन्तु वह नपुंसक था । मेजर यशवन्तसिंह से वह बम्बई में मिलती है । डॉ॰ योगेन्द्र मिश्र को डॉ॰ प्रभाशंकर ही बम्बई से दिल्ली रीडर बनाकर लाते हैं । प्रोफेसरकी इच्छा थी कि डॉ॰ मिश्र उनके बाद उनका स्थान ग्रहण करें, पर रेखाने वह स्थान [?] पहले ही उन्हें दे दिया । रेखा और डॉ॰ मिश्रके सम्बन्धों से प्रोफेसर की बदनामी हो रही थी, अत: वे डॉ॰ मिश्रको ओसला यूनिवर्सिटी भेजनेका प्रबन्ध कर देते हैं । रेखा के कहने पर पहले तो डॉ॰ मिश्र मना करते हैं, परन्तु प्रोफेसर के अत्यधिक आग्रह के वशीभूत होकर वे जाने पर तैयार होते हैं । इस बातको लेकर प्रोफेसर और रेखा में झगड़ा होता है और प्रोफेसर के दायें पैरको लकवा मार जाता है । रेखा डॉ॰ योगेन्द्र के साथ विदेश भाग जानेकी योजना बनाती है, पर निर्णयात्मक मोड़ पर उसकी भावुकता जीत जाती है । डॉ॰ मिश्र विदेश चले जाते है, इधर प्रोफेसरकी मृत्यु हो जाती है । इस प्रकार यह समूचा उपन्यास काम-अभुक्ति में फँसी रेखा के अन्तर्द्वन्द्व और तनावों से तना-कसा है ।

लौटती लहरोंकी बांसुरी (1964)

"लौटती लहरोंकी बाँसुरी" सुप्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि भारतभूषण अग्रवालका एक प्रयोगधर्मी उपन्यास है । यह उपन्यास दिवा स्वप्नशैलीमें लिखा गया है । तैंतालीस दिवा-स्वप्नों में नायक अशोक के अतीत-जीवन के तानों-बानोंसे कथापटका निर्माण हुआ है ।

उपन्यासका नायक कवि एवं अंतर्मुखी प्रकृतिका व्यक्ति है । ऐसे लोग स्वभावत: दु:खी रहनेवाले और व्यर्थ की पीड़ाओंको ढोनेवाले होते हैं । अशोक की पीड़ाका प्रस्फुटन भी उसकी कविताओंमें होता रहता है । उसका अचेतन मन अमिताको चाहता है, परन्तु वह अपनी भावनाओंको प्रकट रूप नहीं दे पाता । अमिताके सानिध्य-लाभ की इच्छा से ही सिनेमा जाता है और विमलेन्द्रका टयुशन भी इसीलिए करता है । परन्तु रणवीर सक्सेना और ज्याग्रफी के टीचर से वह इसलिए लड़ पडता है कि उसका नाम अमिताके साथ जोड़ते हैं । यहाँ उसका चेतन-मन सोचता है कि उसका प्रेम सड़क पर बँटनेवाला हैण्डबिलन बने ।[60] परन्तु उसके इस जस्टिफिकेशन के मूलमें उसके स्वभावकी भीरुता, हीनता बोधकी भावना और अंतर्मुखता ही कारणभूत है । ऐसे लोग प्राय: समाज तथा परिवार से कटकर रहनेवाले, अव्यवहारू तथा जिद्दी होते हैं, फलत: परिस्थितियों से समझौता न कर पानेके कारण दु:खी होते हैं ।

अशोक के पिताको अशोक का कवि होना "सुपरमैन" नहीं, बल्कि खुराफाती लगता है । "शादी करो और काम ढूँढो" कहनेवाले पितासे उसे धृणा होती है और इसीलिए वह घर छोड़कर कलकत्ता चला जाता है ।

वहाँ घोषबाबू नामक एक बंगाली सज्जन से उसका परिचय होता है । वे उसे अपने बेटे की तरह रखते हैं, परन्तु मिस अमिता घोष नामक एक अनिंद्य सुन्दरी के कारण उनके साथ के सम्बन्धों में भी तनाव आता है । घोषबाबूको उसके केरियर की चिन्ता थी, अत: वे उसे अमिता से कुछ दिन दूर रहने की सलाह देते हैं । परन्तु वह अमिता के विचारों में इतना डूब जाता है कि परीक्षामें थर्ड डिविजन से उत्तीर्ण होता है । थर्ड डिविजन आने के साथ ही आई. ए. एस. होने और अमिताको पाने के उसके स्वप्न भी खंडित हो जाता है ।

बुद्धि, रूप तथा आर्थिक स्थितियों से उत्पन्न सामाजिक प्रतिष्ठा इन तीनों दृष्टियों से वह अपने को अमिताके समक्ष हीन समझता है । इस हीनता-बोध से उत्पन्न प्रभुत्व-कामना की भावना से प्रेरित हो, अमिता से ऊँचा उठने के लिए वह कलकत्ते में खेमकाजीके साप्ताहिक "देश-सेवक" में भूत की तरह काम करता है और आर्थिक दृष्टि से कुछ संपन्न भी होता है, परन्तु काव्य-संग्रह के समर्पण से सम्बन्धित विवाद के कारण घोषबाबू और उसके सम्बन्धों का तनाव चरम सीमा पर पहुँच जाता है और अंततोगत्वा वह कलकत्ता भी छोड़ देता है ।

इस प्रकार अपनी भावुकता एवं आर्थिक असमर्थता के कारण "गोबर गणेश" के विनायक की भाँति अशोक भी जीवन की महत्वाकांक्षाओं एवं प्रेमसे बुरी तरह से असफल रहता है ।

वे दिन (1964)

संवेदनशील कथाकार निर्मल वर्माका यह प्रथम उपन्यास चैकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग के चन्द शांति पूर्ण दिनोंकी कहानी है । आस्ट्रियन पति

परित्यक्त युवती रायना अपने एक मात्र पुत्र मीताको लेकर क्रिस्टमसकी छुटियाँ मनाने प्राग आयी है । रायना और उसका पति जाक अलग रहते हैं, पर वे छुटियों में बारी-बारी से मीताको बाँट लेते हैं । बाकी दिनों में वह होस्टेल रहता है । उपन्यास का नायक " मैं " रायना के लिए "इण्टरप्रेटर" का काम करता है । वह एक भारतीय छात्र है और प्राय: छुटियों में टूरिस्टों के लिए ऐसे छोटे-मोटे काम कर लेता है । रायना के साथ वह तीन दिन रहता है । वियेना जानेसे पूर्व एक रात रायना "मैं" के साथ होस्टेल में गुज़ारती है । उसके साथ अक्सर दूसरे शहरों में ऐसा होता है । वह ज्यादा दिन अकले रह नहीं सकती । इस सम्बन्धमें नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्नको वह बीच में नहीं लाती । दूसरे को यदि पछतावा न हो तो वह इसमें कोई बुराई नही देखती ।[61] अब तक पुरुष स्त्रीको भोगता था, यहाँ एक स्त्री अपने मन-पसंद पुरूषको भोगती है ।

रायना के साथ के सम्बन्धों में नायक "मैं" तो थोडा-बहुत इन वाल्व होता है, परंतु इन सब में रायना बिल्कुल निस्संग रहती है । वह प्रेमको शरीर धर्मसे अधिक कुछ नहीं समझती । परन्तु उसकी इस मानसिकता के लिए जिम्मेदार वहाँ का परिवेश है ।

हम यहाँ डॉ॰ पारूकांत देसाई के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि "वे दिन" यूरोपकी महायुद्धोत्तर नयी दिशा-हारा पीढ़ीके संत्रास, घुटन, तनाव, मूल्यहीनता, अर्थहीनता और उसके रीतापनको रूपायित करनेवाला उपन्यास है ।"[62] उपन्यासके पात्रोंका अतीत युद्धकी अभिशाप्त छायासे जुड़ा हुआ है । युद्धकी विभीषिकाओंने इनकी संवेदनाओं को समाप्त कर दिया है । युद्ध अपने पीछे काली, विषाक्त, अवसाद में डूबी हुई शांतिको छोड़ जाता

है । रायना ठीक ही कहती है -- "लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाईके बाद मर जाती हैं -- शांतिके दिनों में ...... हम उनमें से एक थे । ...... वे लोग घरेलू जिन्दगी में खप नहीं पाते । .... मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूँ ..... नाटईबन फार लव । पीस किल्डइट ।"[63] अत: रायना, जाक, मारिया, फ्रान्ज़, टी॰टी॰, "मैं" आदि ऐसे ही पात्र हैं जिनकी संवेदना इस महायुद्धोत्तर शांति के विषयान से भोंथरी पड़ गयी है ।

युद्धोत्तर यूरोपीय परिवेश ही एक प्रकार से उपन्यास का नायक है । "प्राग-द मदर ऑफसिटीज़, द गोल्डन सिटी, द सिटी ऑफ हन्ड्रेड टावर्स, द सिटी ऑफ टियर्स एण्ड नाइट मेयर्स, उसके विभिन्न स्थान इजेरा, पेलीकोन, क्लिके रेन्देवू आदि पब तथा रेस्टोरॉ, विभिन्न शराबें, नौकरी शुदा लड़कियोंका हर पन्द्रहवें दिन बालोंको रंगवा कर ब्लौण्ड करवाना, आठ बजेके पहले तक हॉस्टल में प्रेमिका को लानेका नियम, सर्दियों में बाहर प्रेम करनेकी असुविधा के कारण हौस्टल के गेट कीपर पीटर -- जिसको ये लोग सैंट पीटर कहते थे जिसका महत्व उनके लिए एंजिल से कम नहीं था -- को कुछ क्राउन देकर "कीज़ ऑफ पैरेडाइज़" को प्राप्त करना, जिस दिन "डेट" को मिलना हो उसी दिन स्नान करना, रूम-पार्टनर के लिए रातोंको बाहर गुज़ारना, डान्स और स्केटिंग जहाँ उसके बाह्य या स्थूल परिवेश को रूपायित करते हैं, वहाँ इस दिशाहारा पीढ़ी के अकेलेपन की घुटन का दर्द उसके सूक्ष्म परिवेशको उभारता है ।"[64]

एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज़ ﴾1965﴿

पुराना जीवन किसी-न-किसी प्रकार की आस्था से जुड़ा हुआ था, हमारा वर्तमान जीवन आस्था की उस धुरी से कट गया है । यह आस्थाहीन जीवन आधुनिक युगका महान अभिशाप है जिससे वर्तमान बौद्धिक पीढ़ी जीवन से कटी हुई प्रतीत होती है । लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा प्रणीत यह उपन्यास इसी आस्थाहीन जीवन का [illegible] आख्यान है ।

इसका नायक अनाम विक्षिप्त एवं मूक है । स्वयं वर्माजी के अनुसार अनाम आधुनिक युगके अनभिव्यक्त जीवनकी गहनताको भागनेवाले हम सबके व्यक्तित्व का अंश है -- अत: वह सूक्ष्म, अमूर्त और मूक है ।[65] अनाम के मूक जीवनके केवल तीन दिनों की कथाको इसमें स्मृतियों तथा अन्य पात्रों के वार्तालापों द्वारा चित्रित करनेका प्रयास किया गया है । उपन्यास के मुखर पात्रों में केवल, दीप्ति, पेन्टर तथा डोक्टर हैं जिनका पारस्परिक वार्तालाप अनाम और निशी की वित ज़िन्दगी पर प्रकाश डालता है ।

कथा का नायक अनाम विचारोंकी नीरस ज़िन्दगी जीनेवाला एक विचारक एवं चिंतक है । उसने कई देशोंका भ्रमण तथा कई ग्रंथोंका प्रणयन किया है । उसकी इस विराट बौद्धिक प्रतिभा के वशीभूत होकर निशी उससे विवाह करती है और आजीवन अनाम, उसके विचार तथा उसकी ख्याति के लिए संघर्ष करती है । इसी संघर्ष में उसकी मृत्यु हो जाती है । केवल निशी की मृत्यु के लिए अनाम को ही जिम्मेदार ठहराता है और स्वयं अनाम की अज्ञात चेतना में भी कहीं गहरे यह बात बैठ जाती है, अत: वह विक्षिप्त हो जाता है ।

अनाम मनुष्योंकी अपेक्षा मूक प्राणियों तथा पक्षियोंको सविशेष प्रेम करता है । अत: उसके मित्र परिवारमें जिप्पी नामक कुतिया, पूसी नामक बिल्ली, खरगोशके बच्चे, गिलहरी, चिड़ियों के बच्चे तथा खिलौने आदि हैं । उसकी नौकरानी भी गूंगी है ।

अनामकी विक्षिप्तावस्था में केवल से कटी हुई दीप्ति का स्नेह अनामको मिलता है । दीप्ति जीवनकी आपाधापी में व्यस्त ऐसे केवल की पत्नी है । जहाँ अनाम विचारों में जीता है, दीप्ति भावनाओं में जीती है । अत: अद्वितीय प्रतिभा के धनी ऐसे अनाम को वह अपना दिल दे बैठती है । पहले अनामको वह अपने अनुकूल करनेका प्रयत्न करती है पर बादमें वह उसको ही अपने जीवन-केन्द्रमें स्थापित करती है । दीप्ति के प्रयत्नों से अनाम का मानसिक संतुलन कुछ ठीक भी हो रहा था कि वह जलप्लावनवाली घटना घटित होती है जिसमें अनाम बाढ़ पीड़ितोंको बचाते हुए स्वयं डूब कर मर जाता है । उसकी अंतिम निशानी के रूपमें दीप्ति के नाम लिखा हुआ "एक कटा हुआ कागज़" रह जाता है, जिसमें लिखा था -- "विश्व पर जितने नर हैं वे सिर्फ नर है, नारियाँ नारियाँ हैं और बालक बालक हैं । कोई इससे न कम है न अधिक ।"

डॉ· धनराज मानधाने के मतानुसार "उपन्यास के नायक और नायिका का जीवन कटा हुआ है । अनाम विचारों में जीता है । उसको जीवन में भावोंकी अपेक्षा विचारों का महत्व है । ठीक इसके विपरीत दीप्ति विचारोंकी उपेक्षा कर भावों में जीती है । जीवनमें संतुलन अपेक्षित है । किसी एक पक्षके सहारे जीना जीवनकी लीक से कटकर जीना है । दोनों पात्र अपने-अपने इरादे से हटना नहीं चाहते । परिणाम यह होता

है कि भावोंकी उपेक्षा कर विचारों में जीने वाले अनाम को मौत मिलती है और विचारोंको छोड़ भावोंमें जीनेवाली दीप्ति को कटी हुई ज़िन्दगी ।"[66]

अठारह सूरज के पौधे (1965)

रमेश बक्षी आधुनिक हिन्दी साहित्यके एक बहु चर्चित हस्ताक्षर है । लीक से हटकर सर्वथा नवीनतम ढंगसे वे उपन्यासकी सर्जना करते हैं । अत: उनका प्रत्येक उपन्यास एक प्रयोग होता है । प्रस्तुत उपन्यासमें उन्होंने बम्बईकी अति व्यस्त ज़िन्दगी तथा उसकी विसंगतियोंको नायक की पठानकोट से बम्बई - वी॰टी॰ तक की यात्राके दौरान पूर्व-दीप्ति शैली में स्मृतियों के कई टुकड़ों के माध्यम से चित्रित किया है । उपन्यासका नायक रेलवे का एक साधारण कर्मचारी है । "लौटती लहरोंकी बांसुरी" के अशोक तथा "गोबर गणेश" के विनायक की भाँति वह भी साहित्यिक अभिरूचिवाला एक युवक था जिसके मनमें कई स्वप्न तैर रहे थे । उसके पिता रेलवे में थे और किसी रेल दुर्घटना में उनकी टाँगें कट जाती हैं । कुछ वर्षों बाद उसकी अक्का (माँ) का भी देहांत हो जाता है । उसके आण्णा (पिता) भुसावल चले गये । पिताकी अपाहिज अवस्थाने उसे भी अपाहिज बना दिया और न चाहते हुए भी उसे रेलवे की नौकरी में लगना पड़ा । उसके स्वप्न सरगम के सूर रेलवे की "छक् छक्" में खो गए, जिसमें भूत-भविष्य-वर्तमान सब एक जैसे होते हैं, "गिव-गेव-गिवन" नहीं "पुट-पुट-पुट" जैसा ।[67]

रेलवे में नौकरी करते-करते उसका जीवन भी रेलवे की "छक् छक्" जैसा हो जाता है । खाना, पीना, सोना, नहाना, शौच आदि सभी क्रिया कलाप रेलवे-कम्पार्टमेण्ट में ही होते हैं । केवल पोस्ट के लिए वह एक किराये की खाट ले लेता है, जहाँ दो-चार दिनमें एकाध चक्कर लगा आता है ।

नायक के इस उबाऊ जीवन में कुछ बदलाव तब आता है जब उसका परिचय उपन्यासकी नायिका से होता है । यह परिचय भी ट्रेन में ही हुआ था । नायक ने उसे चालु ट्रेन में चढने में सहायता की थी । बादमें उनके टिफिन बदल गए थे । इस बहाने फिर एक बार मुलाकात होती है । परिचय प्रणय में बदलता है । परंतु नायिका की विवशता यह है कि उसके घरका समूचा आर्थिक बोझ उसी पर है और उसने निर्णय किया है कि जब तक उसके छोटे भाई पढ़-लिखकर कुछ कमाने योग्य न हो जाय तब तक वह अविवाहित रहेगी । इससे नायक के मनमें उसका सम्मान और भी बढ़ जाता है और मन ही मन वह उसके लिए प्रतीक्षा करनेको भी तैयार हो जाता है ।

परन्तु तभी उसे अण्णा की बीमारीका तार मिलता है । वस्तुत: वह तार उसे बुलाने के लिए था । अण्णा के आगे उसकी एक नहीं चलती और उसका विवाह गांव के एक जमीदार की अधपढ़ी लड़की से हो जाता है । रूचि, शिक्षा, संस्कार किसी भी दृष्टि से उनमें कोई मेल नहीं । उसकी बातोंका दायरा गाँव, खेती, भैंस और गोबर तक ही है । उसके ससुर उसे भैंसों द्वारा होनेवाली आमदनी के आँकडे बताते हैं और उसका सिर चकराने लगता है । नायक ठीक ही कहता है कि "अण्णा ने मुझे रेल बना दिया, ये मुझे भैंस बनाने पर तुले हुए हैं ।[68]

नायक की स्थिति विचित्र हो जाती है । प्रियतमा को मिल नहीं सकता, पत्नी से जुड़ नहीं सकता । ऐसी मानसिक स्थितिमें पत्नीके फूहड़ मज़ाक, व्यंग्य और भाऊ से उसका अधिक जुड़ते जाना उसे विक्षिप्त-सा कर देते हैं और एक दिन वह भाऊ को चलती ट्रेन से धक्का देकर गिरा देता है । उसमें भाऊ बचतो जाता है, पर हमेशा के लिए पागल हो जाता है । इस

अपराध-बोध को ढोना नायक के लिए असहय हो जाता है और वह पठानकोटकी लम्बी यात्रा के लिए चल पड़ता है । वहाँ इधर-उधर के भटकाव तथा सस्ती वेश्याओंके साथ उसके कुछ दिन गुजर जाते हैं, परन्तु एक दिन वह किसी रूपजीवी के नग्न शरीरको प्रकाश में देख लेता है । वह जो देखता है उसे झेल पाना बड़ा कठिन होता है और अन्तत: वह वहाँसे भी भागता है । प्रस्तुत उपन्यासकी कथा इन अठारह दिनोंके भटकाव की कथा है जिसमें जीवन के कुरुक्षेत्रकी यंत्रणाओंको पकड़नेका यत्न हुआ है ।

<u>बैसाखियोंवाली इमारतें ﴾1966﴿</u>

रमेश बक्षी का यह उपन्यास भी नगरीय जीवनकी विसंगतियों को उकेरता है । डॉ॰ धनराज मानधाने के अनुसार "नयी पीढ़ी के जलते हुए हस्ताक्षर रमेश बक्षीका यह उपन्यास लँगड़े सम्बन्ध, घिनौने प्रेम और आत्मभोगी चिन्तन के गाल पर भरी सड़क पर एक तमाचा है । एक बदतमीज़ पत्रकार, एक नालायक पत्नी, एक चरित्रहीन प्रशंसिका और एक बेगैरत प्रेमिका के चार स्तम्भों पर इस इमारतकी कैंचियाँ ऊपर उठी हैं । प्रेम के चतुष्कोणी रूपको बक्षीकी कलमने नये परिवेश में नये सन्दर्भों के साथ आधुनिक युगबोध के आवरण में प्रस्तुत किया है ।"[69]

यह आजके इस त्रिशंकु - युगकी कथा है, जिसमें पुराने मूल्य पूरी तरहसे टूट नहीं पाए हैं और नवीन मूल्य पनप नहीं पा रहे हैं । उपन्यास के चारों पात्र-नायक, उसकी पत्नी, हिन्दी साहित्यकी प्रोफेसर मिस जायसवाल तथा एब्स्ट्रैक्ट पेंटिंग की चित्रकार मिस वसुधा - अहंकी बैसाखियों

पर खड़े हैं । अहंका प्राधान्य व्यक्तिको नितान्त आत्मकेन्द्रित बना देता है, अत: वह कभी किसी से समझौता नहीं कर सकता । प्रस्तुत उपन्यास के चारों पात्र भी इसी कारण से अन्तत: बिखर जाते हैं और अहंरूपी बैसाखियों पर खड़ी उनके व्यक्तित्वों की इमारतें भी ढह जाती हैं ।

बक्षीजी के अनुसार प्रस्तुत उपन्यास के नायक का व्यक्तित्व "एण्टीलव" से बना है ।[70] उसके अनुसार प्रेम "महज दिमागी विलास"[71], "जीभ पर उगा कैंसर"[72], "बेहद गरम देश में जमाई गई आइस्क्रीम"[73] या "चुइंगगम"[74] है । उसका द्रष्टिकोण भौतिकवादी है । वैवाहित जीवनकी अपेक्षा वह किसी वेश्या से सम्बन्ध रखना अधिक उचित समझता है । उसकी पत्नी भी प्रेमके घटिया, फूहड़ और बनावटी तरीकों से ही परिचित है । अत: दोनों एक दूसरे से ऊब जाते हैं । पत्नी उसे छोड़नेका निश्चय कर लेती है । नायक उसके इस निर्णय से पहले तो प्रसन्न होता है, पर बादमें जाने से पहले एक बार उसे भरपूर रूपसे भोगने की इच्छा प्रबल हो जाती है । पत्नी विरोध करती है । नायक बलात्कारकी कोशिश करता है, परन्तु पत्नी नाखून और दाँतों के हथियारों से उसे परास्त कर देती है और एक असंतुष्ट और जलती हुई रातको उस घरमें छोड़कर चली जाती है ।

नायक के अहंको दूसरी ठेस पहुँचानेवाली नारी है -- मिस जायसवाल, जो एक कॉलेज में हिन्दीकी प्रोफेसर है । बैचलरोंकी अपेक्षा वह विवाहित लोगोंको ज्यादा पसन्द करती है । उसीके शब्दों में --- "ये कुँवारे लोग बड़े बकवास होते हैं । प्यार इन पर अफीम की गोलीका-सा असर करता है और असलमें होता है वह चोकलेट । वे ज्यादा कुछ करेंगे तो नोच खसोट लेंगे । मेरे मनमें उन सबके प्रति एक डिस लाइकिंग है । उनसे दोस्ती करनेका मतलब है, अपना वक्त जाया करना ।"[75]

अत: प्रकृति-साम्यकी दृष्टि से तो इन दोनों में अच्छी छननी चाहिए, परन्तु पत्रकार चाहे जितना नये विचारोंका दम भरता हो, वह अपने मध्ययुगीन संस्कार एवं अधिकार-भावना से पूर्णतया मुक्त नहीं है । अत: मिस जायसवाल भी एक दिन उसे "इमोशनल कुत्ते" की उपाधि देकर छोड देती है ।

उपन्यासके नायक को तीसरा करारा तमाचा पड़ता है वसुधाके द्वारा । कॉलिज - कला - प्रदर्शनी में वसुधासे उसकी मुलाकात होती है । अपने अखबार में वह उसकी एब्स्ट्रैक्ट पैंटिंग की तारीफ़ के पुल बाँध देता है । वसुधा के कलाकार का अहं इससे पाषित होता है । अत: वह उसके और भी निकट आती है । पत्रकार उससे जातीय सुख देनेकी बात करता है, तब वसुधा समर्पण के पूर्व विवाहका प्रस्ताव रखती है । विवाहको "किसी बेवकूफ द्वारा बनाए गए संविधान पर स्वीकृति के "हस्ताक्षर" माननेवाला पत्रकार भला इस प्रस्तावको कैसे स्वीकार कर सकता है । अत: वसुधा भी उससे किनारा कर जाती है । यह आखिरी प्रहार उसे भीतर से तोड़ देता है और वह दार्जिलिंग की और पलायन कर जाता है । अत: बाहय दृष्टिसे जहाँ इसमें नये-पुराने मूल्योंकी टकराहट है, वहाँ सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो नये और नये मूल्योंकी टकराहट कादंश भी है ।

मछली मरी हुई (1966)

"मछली मरी हुई" राजकमल चौधरी का समलैंगिक स्त्री यौनाचार (**Lesbian**)[76] पर लिखा गया सम्भवत: प्रथम उपन्यास है, आद में इस प्रवृत्तिका कुछ चित्रण "सफेद मेमने" (मणि मधुकर, 1971) में भी मिलता है ।"

वस्तुत: समीक्ष्य उपन्यासकी कथावस्तु पूर्णत: मनोवैज्ञानिक है । डॉ॰ मोरिस सिडेकल तथा डॉ॰ जार्ज हेनरी ने क्रमश: अपनी पुस्तकों - "फीमेल सेक्स पर्वर्शन" (1938" तथा "सेक्स वैरिएन्ट्स" (1941) में स्त्रियों के समलैंगिक यौनाचारको एक मानसिक रोगकी संज्ञा दी है ।"[77] किन्हीं कारणों से कोई स्त्री पुरूषसे कतराती है या सामाजिक बन्धनोंके कारण पुरूषका संग सुलभ नहीं होता तब वह अपनी यौन-क्षुधाकी तृप्ति स्त्रीके सहचार द्वारा प्राप्त करती है । कुछ अनुभवों के बाद उसे फिर इसमें ही आनंद आने लगता है । पुरूष सैक्स की दृष्टि से कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, अधिक समय तक स्त्रीके साथ टिक नहीं सकता, जबकि दो स्त्रियाँ घण्टों इसमें व्यस्त रह सकती हैं । यही कारण है कि लिस्बियन स्त्रियोंको संतुष्ट करना सरल नहीं होता क्योंकि पुरूषों के प्रति एक प्रकारका मनोवैज्ञानिक ठण्डापन उनमें पाया जाता है । प्रस्तुत उपन्यास की शीरीं, प्रिया आदि स्त्रियाँ लिस्बियन है ।

प्रस्तुत उपन्यास के प्राय: सभी मुख्य पात्र - निर्मल पद्मावत, कल्याणी, शीरीं, प्रिया, डॉ॰ रघुवंश -- मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असाधारण है । निर्मल पद्मावत के पिताकी मृत्यु के बाद उसकी माँ पैतृक मकान के बेचकर एक लोरीवाले ड्राइवर के साथ भाग जाती है । "माँ को आदमी की जरूरत थी, अच्छा किया जो चली गई । लेकिन मकान क्यों ले गई ?"[78] "मकान" के अभाव की यह चेतना निर्मल पर ऐसी छायी कि एक दिन कलकत्ता के प्रिन्सेस-स्ट्रीट पर तीस मंजिला स्काई - स्क्रैपर - कल्याणी मेन्शन के नाम से उसने बना ही डाला । एडलरके अनुसार मनुष्यके जीवनकी किसी कमी या क्षति की पूर्ति प्रभुत्व प्राप्ति से होती है । अतुल संपत्ति के स्वामी होने पर निर्मल की असाधारणता समाप्त हो जानी चाहिए थी, परंतु इसे उसके भाग्य

की एक विडंबना ही समझना चाहिए कि एक नारी {उसकी माँ} ने उसमें मकान की चेतना जगायी[79] तो दूसरी ने नामकी प्रेरणा दी ।

माँ के भाग जाने पर निराधार निर्मल करांची, लाहौर, सियालकोट, बम्बई होते हुए एक माल जहाज़ में बैरा होकर पूरी दुनिया की सफ़र करता है । टोकियो, हाँगकांग, पैकिंग, मोस्को, वारसा, बुडापेस्ट, बर्लिन, वियेना, पेरिस आदि महानगरोंकी खाक छानता है और अनुभवकी बहुत बड़ी पूंजी लेकर युद्धके दिनों में प्रसिद्ध उद्योगपति प्रभासचन्द्र नियोगी के सहयोग से कुछ ही दिनों में एक बहुत बड़ा उद्योगपति बन जाता है । अपनी इसी यायावरीय ज़िन्दगी के दौर में वह कल्याणी से न्यूयोर्कमें मिलता है । वह उसके साथ संभोग भी करता है, परंतु शीघ्र ही स्खलित हो जाता है । कल्याणी उसकी भर्त्सना करती है । कल्याणी की यह भर्त्सना उस काले आबनूस से पहाड़ जैसे आदमीको नपुंसक बना देती है । उसकी यह नपुंसकता शारीरिक नहीं, मानसिक है । यदि कल्याणी सहानुभूति से पेश आती तो निर्मल दुबारा तैयार हो जाता और नपुंसक भी नहीं होता, परंतु कल्याणी तो चीखने लगी थी -- "तुम यही आदमी हो ? इतने से आदमी हो ? बस ? इसी के लिए·······इतने ही के लिए मेरे पास आये थे ? ···छि: छि:, कल्याणी चीखने लगी ···· फिर कभी इधर नहीं आना निर्मल । तुम आदमी नहीं हो, नरक के कीड़े हो ······ मत आना कभी ।"[80]

कल्याणी द्वारा प्रदत्त यह नपुंसकता कल्याणी से ही भंग हो सकती थी, परंतु निर्मल कुछ बनकर उसे प्राप्त करे, उसके पहले ही वह डॉ· रघुवंश से विवाह कर, प्रिया नामक एक बच्चीका उपहार देकर, मरण-शरण हो जाती है । डॉ· रघुवंश को यह मालूम है, अत: वे सोचते हैं कि प्रियाही

बड़ी होकर निर्मल की असाधारणता को दूर कर सकती है । परन्तु विश्वजीत मेहता द्वारा किये गये कल्याणी के अपमान से तिल मिलाकर निर्मल उसकी पत्नी शीरीं को शीरीं मेहता से शीरीं पद्मावत बना देता है ।

निर्मल के जीवन में एक करूण अध्याय और जुड़ता है । शीरीं समलैंगिक यौनाचार में डूबी एक लिस्बियन औरत है । शीरीं प्रारंभ में साधारण थी । उसकी माँका देहान्त प्रसव-कालमें हो गया था, अत: उसकी बड़ी बहनने उसके मनमें दुनियाभर के मर्दों के लिए नफ़रत का भाव पैदा कर दिया । उसने ही उसे यह सब सिखाया था, किन्तु बादमें वह किसी के संग चली गई । इसके पश्चात् उसके जीवनमें यदि कोई पुरूष आता तो उसकी यह आदत छूट सकती थी, पर किस्मतमें था बूढ़ा विश्वजीत मेहता । उसके बिस्तरे में उसे आनंद नहीं आता था, क्योंकि बिस्तरा ठंडा होता था । अत: वह ऊँची सोसायटी की सुंदर लड़कियों को फँसाकर उन्हे इस आदत मे डालती है । डॉ॰ रघुवंश और कल्याणी की लड़की प्रिया उसीका शिकार है । दोनों में समलैंगिक सम्बन्ध हैं, जिसका चित्रण मछली के प्रतीक द्वारा लेखकने किया है : "मछलियाँ अँधेरे में तैर रही हैं, एक दूसरेको पकड़ने के लिए उछल रही हैं । मगर बाँहें नहीं हैं । मछलियाँ एक-दूसरे में लिपटनके लिए तड़प रही हैं, मगर पाँव नहीं हैं । एक मछली कहती है, और पास आओ, अपने होठोंसे मुझे पी जाओ । मेरे होठों में अपनी अपनी जीभ डाल दो । अपने शरीर से मुझे रगड़ती रहो । मैं मर रही हूँ ..... दूसरी मछली कहती है, मैं मर रही हूँ .... मेरी हड्डियोंको तोड़ डालो । मेरे होंठ अपने दाँतों से कुतर डालो । मार डालो मुझे, मैं मरना चाहती हूँ ।"[8]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कुण्ठाओं के वशीभूत होकर पुरूष कई बार नपुंसक हो जाता है । वास्तवमें वह नपुंसक होता नहीं ।[82] तब किसी परिस्थिति - विशेष में पड़कर उसका पौरूष फूट पड़ता है । निर्मल पद्मावत के साथ भी यही होता है । प्रिया जब उसके नपुंसकत्वका मखौल उड़ाती है, तब वह बौखला पड़ता है । उसे लगता है, माना कल्याणी ही प्रियाके रूपमें उसे आह्वान दे रही है और वह पशुकी तरह टूट पड़ता है । एक बार नहीं, अनेक बार प्रिया पर सफल बलात्कार करता है । उसका पुंसत्य लौट आता है । प्रिया भी पुरूष - संभोग के अनुभव से साधारण हो जाती है । डॉ॰ रघुवंश को इस बात की खुशी होती है कि आखिर प्रियाने कल्याणीका काम किया और वह स्वयं भी एक साधारण (Normal) स्त्री बन सकी । निर्मल पद्मावतने व्यापारमें घाटा खाया पर किसी तरह से "कल्याणी - मेन्सन" बचाकर प्रियाको दे दिया । और वह नीली मछली शीरीं पद्मावत को पाकर जी उठी । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास यौन-विकारों एवं अभिजात समाज के उन्मुक्त भोग से सम्बद्ध खोखलेपन को चित्रित करता है ।

<u>रूकोगी नहीं ... राधिका? (1967)</u>

उषा प्रियंवदा का यह दूसरा उपन्यास अस्तित्व-बोध एवं आधुनिक भाव-बोध को गहराई से रेखांकित करनेवाला उपन्यास है । खंडित पात्र एवं खंडित व्यक्तित्व इस शताब्दी के उतरार्द्ध के मनुष्यों की निपति है । यह आधुनिक जमानेकी महान ट्रेजड़ी है कि व्यक्ति भीड़में भी अकेला होता जा रहा है और वह जीवन-पोषक मानवीय-मूल्यों से कट रहा है ।

वैचारिक दृष्टिसे देखा जाय तो यह "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की अगली कड़ी है। उपन्यासका प्रारम्भ-बिन्दु उसमें वर्णित घटनाओंका मध्यबिन्दु है। राधिका के स्वदेशागमन से उसका प्रारम्भ होता है। उसके पितृ-गृहका जीवन, पिताका विद्यानामक एक सुशिक्षित प्रौढ़-अध्यापिका से दूसरी बार विवाह करना, राधिकाके मनमें स्थित आदर्श - पिताकी इमेजका खँडित हो जाना, पिताको आघात देनेके लिए डेनियल पिटरसन के साथ विदेश भाग जाना, विदेश में डेनका उसे त्यागना, मनीश का परिचय आदि तथ्य पूर्व - दीप्ति एवं पात्रों के कथापकथनों द्वारा व्यंजित होते हैं।

स्वदेश आने पर राधिका अक्षय के प्रति कुछ झुकती है क्योंकि पश्चिमके स्वच्छन्दी यायावरी "प्ले बोय" टाईप के व्यक्तित्वों से वह अब कुछ धबड़ाने लगी है। जीवन में सुरक्षा और स्थायित्वकी दृष्टिसे अक्षय उसे अधिक अनुकूल जान पड़ता है, परन्तु अक्षय उसके मोहक व्यक्तित्व से आकर्षित होते हुए भी उसके अतीत के प्रति शंकाशील है। मनीष के साथ उसका धूमना - फिरना उसके संदेह में वृद्धि करता है, अत: उसके संस्कार उच्छिष्ट को ग्रहण करनेमें कुछ हिचक का अनुभव करते हैं। फलत: वह कलकत्ता चला जाता है और एक तरफ से राधिका को भूला देता है। राधिका मनीश के व्यक्तित्वसे प्रभावित है, परन्तु उसकी यायावरी ज़िन्दगी के प्रति संदिग्ध--दृष्टि रखती है। विजया, नयनतारा, कारिन जैसी कई लड़कियाँ उसके जीवन में आकर चली गयीं। एक के साथ बँधकर रहना उसकी प्रकृति में नहीं है, अत: राधिका उसे लेकर अपने भविष्य के बारे में आश्वस्त नहीं है। परन्तु विद्या द्वारा आत्महत्या कर लेने पर, राधिका के पिता उसे

अपने पास रहने के लिए कहते हैं, तब शायद उन्हें दूसरा आघात देनेके लिए वह तत्काल मनीशके प्रस्तावको स्वीकार कर लेती है ।[83]

डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान के अनुसार "राधिका ने अकेलापन अपनाया है और सुषमा (पचपन खंभेलाल दीवारें) का अकेलापन उस पर थोया गया है । राधिका के अजनबी पनमें आधुनिकताका बोध उजागर होता है ।"[84]

डॉ॰ लक्ष्मीसाकर वार्ष्णेय के मतानुसार प्रस्तुत उपन्यास में लेखिकाने नारीको नयी अर्थक्ता प्रदान की है । इसकी नायिका राधिका "पचपन खंभेलाल दीवारें" की सुषमा से अपने परिवेशगत संस्कारोंके कारण अधिक मुक्त व विद्रोही है ।[85] किन्तु वस्तुत: दोनोंकी स्थितियाँ भिन्न हैं । "जहाँ सुषमा पक्षाघात से पीड़ित मध्यवर्गीय पिताकी ज्येष्ठ पुत्री होनेके कारण अकेलेपन के दंशसे पीड़ित है, वहाँ राधिका अपने उच्च-मध्यवर्गीय संस्कारों से परिचालित होकर उस अकेलेपन को ओढ़ती है । सुषमा के अकेलेपन की पीड़ा में उसका आर्थिक पक्ष प्रबल है, जबकी राधिकामें मानसिक पक्ष ।"[86]

एक पतिके नोट्स (1967)

महेन्द्र भल्ला का यह उपन्यास आधुनिक भाव-बोध की कतिपय स्थितियों को रेखांकित करनेवाला उपन्यास है । आधुनिक जीवन में व्याप्त निरर्थकता के तीखे बोध को पहचानने और तोड़नेका प्रयास इसमें है । इसमें एक पतिके रोजमर्रा के अनुभवोंको "नोट्स" का रूप देनेका प्रयास हुआ है । उपन्यासका नायक "मैं" एक आधुनिक, शिक्षित, उच्चवर्गीय व्यक्ति है । क्लब, रेस्टोराँ, काफी हाउस, कैसेट्स, गाने, गज़लें, संगीत यह सब मिलकर भी आधुनिक जीवन की ऊब को दूर नहीं कर सकते । यहाँ कोई

आर्थिक समस्या नहीं है । नायक "मैं" और नायिका सीता दोनों स्वस्थ, सुखी हैं । परंतु एक प्रकार की निरर्थकताका बोध नायक को भीतर से खाये जाता है । कहीं कुछ भी नया नहीं है । जीवन को एक ढर्रे से जिये जाना है । सर्वत्र एक बासीपन की गंध फैली हुई है । नायक "मैं" इस एक रस यौन-जीवन से उबा हुआ है । पत्नी सीता क्रीम रंगकी शाल ओढ़ेसो रही है । उसका यह सोया चेहरा नायक "मैं" को भी अच्छा लगता है, पर वह सोचता है -- "अगर वह मेरी पत्नी न होती तो मैं उसे ज़रूर चूम लेता या चूमने की इच्छाको दबाकर कड़वा मज़ा लेता ।"[87] एक बार नायक अविनाश (मैं) किसी स्त्रीको देखकर आकर्षित होता है, उसके चेहरे पर एक चमक-सी आ जाती है । पर बादमें वह स्त्री सीता ही निकलती है । तात्पर्य यह कि उसकी पत्नी सामान्य तौर से सुन्दर व स्वस्थ है जिसे चाहा जा सकता है और प्रारंभ में नायक उसके पीछे बुरी तरह से पागल था ।[88]

इसमें अनुभूति के बेमानी होनेका तीखा बोध है और इसे तोड़नेकी कोशिश भी है । इसमें जड़ित एकरसता, निरर्थकता और व्यर्थताकी बोरियत केवल सेक्स की नहीं, दैनंदिन जीवनकी यांत्रिकता की है । अत: डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान के इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि "इस उपन्यास के बारेमें जब यह कहा जाता है कि इसका मूल स्वर संभोगका है तो यह पहचान अधूरी जान पड़ती है ।"[89] यह सही है कि इधर के कुछ उपन्यासों में स्त्री-पुरूषके सम्बन्धों, विशेषत: संभोग, पर एक खुली आँखका दृष्टिपात मिलता है । "वे दिन", "अंधेरे बन्द कमरे", "यात्राएँ", "बेघर", "सफेद मेमने", "सूरजमुखी अँधेरे के" प्रभृति उपन्यासों में संभोग - चित्र मिलते हैं । प्रस्तुत

उपन्यास में भी दो-तीन स्थान पर इसके संकेत मिलते हैं[90] और एक स्थान पर इसका स्पष्ट चित्रण है ।

उपन्यासकी कुल कथा इतनी है कि नायक अपनी पत्नी सीता की एकरसता से बोर होकर कुछ नया करना चाहता है । इसी उपक्रम में वह अपने पड़ोस में नज़र दौड़ाता है । चन्द्रा और सन्ध्या-ननद-भाभी हैं । नायक उनमें से सनध्या को फँसाने की कोशिशें करता है और उसमें कामियाब भी होता है । परन्तु अंतत: वह अनुभव करता है कि "कुछ नया नहीं था । शुरु में मुलायम तपती - फिसलती देह । बादमें वही गीला लिज लिजापन, वही लुचलुचाती छातियाँ । xxx लेकिन अभी जो हुआ वह वही था जो सीताके साथ होता है, बल्कि लगा कि अभी-अभी जो हुआ था वह दरअसल सीता के साथ ही हुआ था ।"[91] इस तरह यहाँ भी निरर्थकताका बोध नायक को मजबूती से जकड़ लेता है ।

यह निरर्थकताका बोध नगर बोधसे जुड़ा हुआ है । अन्य उपन्यासोंकी भाँति यहाँ शहरी ज़िन्दगी की भाग-दौड नहीं है, लेकिन खाली दोपहरों और सूनी रातोंकी बोरियत गहराई से नगरबोध को उजागर करती है । इस व्यर्थताके बोध को उजागर करने के लिए कहीं-कहीं कथोपकथनों से भी लेखक ने काम लिया है, यथा -- "गरमी बहुत है । क्या किया जा सकता है ? कुछ भी नहीं ।"[92] इस निरर्थकता-बोध से लेखक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह भी एक मामूली इन्सान है[93] और इस प्रकार अंतमें वह अपनी बुनियादी अक्षमताको पहचान लेता है ।[94]

किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई §1967§

नगरीय परिवेशके यथार्थ-चित्रण में कथा-शिल्पके धनी श्री शैलेश मटियानी एक सिद्धहस्त उपन्यासकार है । अपने व्यंग्यात्मक टोनके लिए प्रसिद्ध प्रस्तुत उपन्यासमें लेखकने मोहमयी बम्बई नगरीकी दो नारियों -- सेठानी नर्मदाबेन और नौकरानी गंगूबाई - की कथाको अत्यंत रोचक शैलीमें प्रस्तुत किया है ।

उपन्यास की कहानी कल्लन उस्ताद के माध्यम से उस्तादोंवाली शैलीमें चलती है । प्रारंभ के आमुखमें ही कहा गया है -- "न सात समन्दर पारका, न राजा इन्दर के दरबारका, और न शहजादे शहरयार या साढ़े तीन चार का -- यह किस्सा है, गाँठिया-पापड़ी, ऊसल-पाव-मसाला-डोसा, बटाटा-वड़ा, चालू - स्पेशल चा और भेलपुरीके देश बम्बई का ।"[95] और कल्लन उस्ताद अपने चेले पोपटको स्त्रियोंके दो भेद बताते हुए कहते हैं -- "सुन, इस बम्बई में -- जहाँ न फूट पालियों को चैन है, न महलों को ही आराम - तिरिया के दो भेद होते हैं । xxx सुन, कलन्दर । देसाई भवन सातवाँ माला, कालबादेवी, मुंबई नं॰2, के शानदार फ्लेट में रहनेवाली सेठानी नर्मदाबेन और गाँव पिलखोली, पोस्ट-तालुका रेंसी, जिल्हा सतारा, हाल मुकाम मकनजी - बमलजी की चाल, खोली नं॰ पंधरा, भवनेश्वर, मुंबई नं॰ 2, की गंगूबाईका यह किस्सा है ।"[96]

"पहली के पास दिल था, दिलदार थे, दौलत थी । दौलत के नशे में, उसने दिल भी गँवाया, दिलदार भी, खजूर-छाप नोटों से उसने जिस्म तो खरीदे, पर सच्ची मोहब्बत न खरीद सकी । सो, बेटे, एक दिन उसे कहना

पड़ा -- "गंगूबाई, तने नाणा केटला जोइए, मारा पासेर्थी लईजा । जो तारी रहेवानी सगवड ना होय तो हुं तने मारो बांदरानो फ्लेट आपीशूं -- पण, हुं तारे पगे पडीशूं, तू करसनने तारा प्रेममां पडवानी ना पाड़ी दे ।"[97]

"दूसरी के पास सिर्फ दिल था, जिसे दाँव पर लगाकर, दिलदार और कलदार बटोरने के कई सुनहरे मौके उसके सामने आए, पर उसने एक आणे ला दोन-दोन आणेला तीन" केले बेचे, दिल न बेच सकी । नर्मदाबेन से बोली - "सेठानी बाई भला ही तुमची दौलत नको, तो बाँदराचा फ्लेट नको । तो माझा मनाचामीत -- तो करसन, करसन महाराजे गोविंदा, मला फक्त तोच पाहिजे ।"[98]

कथा बस इतनी होती तो केवल एक रोमानी प्रेमकथा मात्र बनकर रह जाती । किन्तु इसके साथ ही लेखकने नगरीय जीवनकी, उसके तथा कथित अभिजात उच्च वर्गकी अनेक विसंगतियाँ भी सामने रखी हैं । विपुल वासना वती नर्मदाबेन सेठानी और नगीनभाई शेठको नकली दाम्पत्य जीवन पत्नीकी वासना पूर्ति हेतु स्वयं सेठ द्वारा अलग-अलग प्रकारकी व्यवस्थाएँ, स्कूल, धर्मशाला, आश्रम इत्यादि में सेठानी द्वारा अपनी पसंद के आदमियोंको रखकर यथेच्छ शिकार खेलना, सेठ द्वारा सेठानीकी वासना - पूर्ति के लिए राम दुलारे को रखना और स्वार्थ-पूर्तिके पश्चात् मिथ्या - आरोप लगवाकर नासिक सेन्ट्रल जेलमें भिजवा देना, उसकी पत्नी रामीका सेठके पास पाँच रूपये के लिए जाना और सेठ द्वारा मना किए जाने पर आसन्न-प्रसवा की स्थितिमें भी रहीमा पठान के साथ सोनेके लिए विवश होना, ऐसी स्थिति में रामीका निधन, उसके अनाथ पुत्र पोपटका

कल्लन उस्ताद द्वारा पालन-पोषण, बेंको में लूट चलानेवाले कल्लन उस्तादका पोपट के खातिर इरानी होटलोंमें प्लेटोंको धोना, यह और ऐसी अनेकों घटनाएँ उपन्यास को यथार्थवादी व्यंग्यात्मक उपन्यासोंकी कोटिमें प्रतिष्ठित कर देती हैं ।

डाक बंगला (1968)

कमलेश्वर अपने उपन्यासों में अपने समयके युग सत्यको सूक्ष्मता एवं सांकेतिकता के साथ निरूपित करने में सिद्धहस्त हैं । उनके समकालीन सहधर्मी कथाकार राजेन्द्र यादव के शब्दों में, "कमलेश्वर अपना सच नहीं बोल सकता, मगर अपने युग और पीढ़ीका सच वह जरूर बोल सकता है, क्योंकि उसके पास ज़बान हैं और उसे बात करनी भी आती है ।"[99]

"डाक बंगला" में तथाकथित उच्च एवं भद्र समाज में होनेवाले सुशिक्षित नारीके नैतिक शोषण के कोणोंको लेखक ने खराद पर चढ़ाकर और भी नुकीला बना दिया है । दिनमें दसियों बार मानसिक व्यभिचार करनेवाली अनेकों नारियाँ अपनी तथाकथित शारीरिक पवित्रता के बरकरार रख पाती हैं क्योंकि समाज और परिस्थितियों का कवच उन्हें हर समय बचाए रखता है, दूसरी और कुछ ऐसी नारियाँ भी हैं जो मनसे किसी एक की होनेके बावजूद परिस्थितियाँ उन्हें अनेक की अंक शायिन्त होनेके लिए विवश करती हैं । कमलेश्वर यहाँ परम्परागत नैतिकता एवं पवित्रता के पक्षधर न होकर वैयक्तिक भीतरी नैतिकता के पक्षधर होते हैं और इसके लिए उन्होंने इरा जैसे पात्रका निर्माण किया है । इरा आधुनिक कालकी एक ऐसी नायिका है जिसके जीवन में चार पुरूष आते हैं -- विमल, बतरा, बुढ़ा

डॉक्टर और मेज़र सोलंकी । परंतु उसकी आत्मा हमेशा उसके प्रथम प्रेमी विमल के साथ ही रही ।

कश्मीर-यात्रा के दौरान लिदरवट के बंगले में इरा अपने सहयात्री एवं अंतरंग मित्र तिलकको आधीरातके बाद अपनी यह रामकहानी सुनाती है । उसके जीवनके तीन पुरूषोंकी कहानी वह तिलक से कहती है । मेजर सोलंकीवाली घटनाको घटित होते हुए दिखाया गया है ।

इरा नाटकका जीव थी । माँ मर चुकी थी । पिताके आश्रयमें कॉलेज में प्रवेश पाने तक नाटक लिखती व खेलती रही । इसी सिलसिले में वह विमलसे मिली और उसे अपना कुंवारा यौवन समर्पित कर दिया । विमल बेहद भावुक एवं शंकाशील व्यक्ति था । नाटक की ज़िन्दगी और स्वयंको चलाने के लिए इराको मि॰ बतरा के यहाँ फोन एटेन्डण्ट की नौकरी करनी पड़ी । मि॰ बतरा एक चलता - पुर्जा, हर-फन मौला ढाईपका आदमी था । विमल के मनमें उसके लिए कोई अच्छी धारणा नहीं थी, अत: इरा और बतराको लेकर उसके मनमें शंका के बादल मँडराते रहते हैं । अत: एक दिन इन्हीं शंका के भँवरों में फँसकर विमल बम्बई चला जाता है । जहाँ जाली नोटोंके स्कैन्डिल में उसे बारह सालकी सज़ा हो जाती है ।

इराके जीवनका दूसरा अध्याय बतरा है । आधुनिक सभ्य एवं उच्च समाजकी सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक भ्रष्टता के बल पर ही उसका व्यवसाय चलता है । बतरा उन लोगों में हैं जिनकी सज्जनता और निष्कपटता शराब पी चुकनेके बाद ही उभरती है । एक रात शराब की बेहोशगी और रातकी तनहाई में मजाज की रिकार्ड "शहरकी रात और मैं नाशादो नाकारा फिरूँ, की धुन पर जब वह व्याकुल-सा घूमता है, तब आदमी की खूब सूरतीको

उसकी बेहोशगी में देखनेवाली इरा उसे समर्पित हो जाती है और शीला के साथ के मि॰ बतरा के संबंधों को जानते हुए भी शादी किए बिना उसके साथ विवाहित जीवन व्यतीत करने लगती है । किन्तु बच्चे की लालसा उसे मि॰ बतरासे अलग करती है । बतरा इन बखेड़ों में पड़ना नहीं चाहता । धोखे से टॉनिक के बहाने दवाई पिलाकर बतरा इराके भ्रूणको गिरा देता है । इरा टूट जाती है । बतरा उसे बाहयत: मना लेता है, पर भीतर से अब वह इरासे ऊब चुका था, अत: शीला के द्वारा उसे नौकरी से हटा देता है ।

बतरा के बाद बूढ़ा डॉ॰ चन्द्र मोहन इराके जीवन में आता है । उद्दाम प्रेमको जानने-समझने-भोगनेवाली इरा डॉक्टर से कभी संतुष्ट नहीं हो पाती । वह भीतर से उसे नफ़रत करती है । एक दुर्घटनामें गोली लगने से उसकी मौत होती है । यह भी एक विडंबना है कि जिसे वह नफ़रत करती थी वह डॉक्टर उसके लिए पन्द्रह हज़ार रूपसे छोड़ जीवन के लिए ठोस आधार प्रदान करता है ।[100]

पुरूष के स्वभावको जानते - समझने वाली इरा तिलक और मेज़र सोलंकी में से मेजर सोलंकी को पसन्द करती है और उसके जीवनका एक मात्र स्वप्न-सेमल के लाल फूलोंका खिलना {बच्चा} -- जब साकार होने लगता है, तब बीमारीकी अंतिम अवस्थामें विमल उसे मिलता है । विमल के लिए वह अपने सपनोंका गला घोट देती है, पर अन्तत: वह भी उसे अकेली छोड़कर इस दुनिया से बिदा ले लेता है । जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी या दुर्घटना यही है कि हमें हर चीज़, हर सुख मिलता है, पर समय पर नहीं ।[101] इराके जीवनकी त्रासदी भी यही है । काश उसे विमल दो

या तीन वर्ष बाद मिला होता, काश बतरा की ज़िन्दगी में वह पन्द्रह बरस पहले आ जाती, काश डॉक्टर से उसकी मुलाकात बीस वर्ष पहले होती या काश तिलक उसे पहले मिलता । तब उसके जीवनको कोई अर्थ मिल पाता । यहाँ इराको केवल निरर्थक प्यार ही मिला । उसकी ज़िन्दगी महज़ एक डाक बगला बनकर रह गई ।

कृष्णकली ॥1969॥

संवेदनशील नारी कथाकार शिवानी द्वारा प्रणीत प्रस्तुत उपन्यास समयकी दृष्टिसे सामन्तकालीन समाज एवं स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के आधुनिक जीवन को चित्रित करता है । शिवानी की लौह-संकल्पिनी मानस-संतान[102] "कृष्णकली" हिन्दी औपन्यासिक साहित्य का एक स्मरणीय पात्र है । कुष्ठ रोग से पीड़ित माता-पिता की संतान कृष्णकली का जन्म ही अल्मोड़ा के कुष्ठाश्रममें हुआ था । उसकी माँ पार्वती तो उसे जन्मते ही मार डालना चाहती थी किन्तु विदेशिनी डॉ॰ पेट्रिक की करूणा उसे पन्ना की गोदी में डाल देती है । पन्ना की पुत्री "क्षणिक अतिथि" के रूप में आकर चल बसी थी, अत: उस शून्यता को भरने के लिए डॉ॰ पेट्रिक के आग्रह पर पन्ना उसे अपनी बेटी के रूप में रख लेती है और उसके जन्म से सम्बन्धित इतिहास को हमेशा गोपनीय रखती है ।

नाचना-गाना पन्ना का मातृ-व्यवसाय है । उसकी माँ मुनीर अपने ज़माने की प्रसिद्ध नृत्यांगना और नेपाल के राणा की रखैल थी । उसकी तीनों बेटियाँ - माणिक, हीरा, पन्ना -- अलग-अलग पुरुषों से थीं ।

माणिक राधा की पुत्री थी, हीरा लाट साहब के हब्शी नौकर रौबी की पुत्री थी और पन्ना के पिता थे लाटसाहब के ए•डी•सी• रोबर्टसन । कार अकस्मात में मुनीर एवं हीरा की मृत्यु हो जाने पर माणिक ने माता के व्यवसाय की बागडौर को थाम ली थी ।

नृत्यांगना होने के बावजूद पन्ना केवल विद्युत रंजन मजूमदार से ही सम्बन्ध रखती थी । उससे ही उसे गर्भ भी रहता है । संकोचवश माणिक को बताए बिना वह अल्मोडा पहुँची थी और वहाँ से "कली" को लेकर वापिस आती है । अत: "पीली कोठी" के रंगीन वातावरण में "कली" का शैशव किलकारियाँ भरता है । सबसे अधिक स्नेह उसे वाणी सेन (तानी मासी) से मिलता है । उसका यह "कृष्णकली" नाम भी वह गुरूदेव की एक रचना के आधार पर रखती है । माणिक की व्यावसायिक बुद्धि ने "कली" के श्याम - सलौने रूप का मूल्य बहुत पहले ही समज लिया था । किन्तु पन्ना कली पर अपने व्यवसाय की छाया तक पड़ने देना नहीं चाहती । अत: दोनों बहनों में झगडा होता है और पन्ना कली को लेकर किसी पर्वतीय प्रदेश में चली जाती है । डॉ• पेद्रिक की सहायता से कली को कान्वेण्ट के बार्डिंग स्कूल में दाखिल कर दिया जाता है । प्रखर बुद्धि रहते हुए भी माँ-बाप के रक्त से प्राप्त तस्करी - प्रवृत्तियाँ कली को कुछ उच्छृंखल बना देती हैं । उन्हीं दिनों अकस्मात उसे अपने जन्म के रहस्यका पता चलता है ।

अपने जन्म से उत्पन्न हीनताग्रंथि से जूझने के लिए प्रभुत्प - प्राप्ति हेतु वह वर्जित प्रदेशों में विचरण करने लगती है । पन्ना को छोड़कर वह कलकत्ता चली जाती है । वहाँ अपनी सहेली की आण्टी-लोरीन आण्टी के यहाँ कुछ समय रहती है । लोरीन आण्टी प्रत्यक्ष: पाल्ट्रीफार्म चलाती

थी, परंतु वस्तुत: सोने का अण्डा देने वाली मुर्गियाँ वहाँ और भी थी । आण्टी के यहाँ वह सोने की तस्करी का काम करती है । ततपश्चात् बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानो में वह माडलिंग का काम अपनाती है । उन्हीं दिनों उसका परिचय एक पहाड़ी परिवार से होता है । यहाँ से प्रवीर, जया, माया, कुन्नी, दामोदर की एक समान्तर कथा चलती है । कुछ दिन के लिए कली इलाहाबाद विवियन आण्टी के यहाँ भी चली जाती है । कली को माँ का वात्सलय केवल तीन स्त्रियों से मिलता है -- वाणीसेन, पहाडी परिवारवाली अम्मा और विवियन आण्टी ।

कली प्रवीर से प्रेम करने लगती है । प्रवीर भी उसकी तेजस्विता प्रगल्भता एवं सौन्दर्य से प्रभावित था, परंतु कुछ पूर्वाग्रहोंके कारण उससे खिंचा हुआ रहता है । पूर्वाग्रहके बादल छँटते हैं तब तक में वह पाण्डे परिवारका दामाद बन चुका होता है । कली सिलोन जाने के लिए चल पड़ती है, परंतु बीच में ही किसी स्टेशन पर उतर जाती है । उपन्यास के अंतमें हम उसे इलाहाबाद में विवियन आण्टी के पास पन्ना प्रवीर आदिके सानिध्यमें कैन्सर जैसे असाध्य रोगसे पीड़ित होकर दम तोड़ते हुए पाते है । दूसरे दिन प्रवीर जाने वाला था, अत: नींद की गोलियाँ खाकर वह अपने मृत्यु-क्षणको पहले ही निमंत्रित कर लेती है । इस प्रकार यहाँ भी शिवानी के अधिकांश उपन्यासोंकी भाँति नायिका की मृत्यु प्रेमी के सानिध्य में होती है ।

कड़ियाँ (1970)

हिन्दी के नये हस्ताक्षरों में सिद्धहस्त कथाकार ऐसे भीष्म साहनी कृत कड़ियाँ विवाह एवं सेक्स की समस्या पर आधारित, खंडित दाम्पत्य तथा टूटते परिवारकी कसक को गहराई से अंकित करनेवाली उपन्यास है। विभक्त परिवार के भयस्थान तथा उसमें बच्चेकी असहाय त्रिशंकु-सी अवस्थाको भी इसमें व्यंजित किया गया है।

महेन्द्र और प्रमिला के दाम्पत्य जीवन की कड़ियाँ जब एक बार टूटती हैं, तो फिर कभी नहीं जुड़ सकती। आधुनिक जीवन की चमक-दमक एवं फैशन के नित्य-नवीन रूपोंसे महेन्द्र की आँखें चौंधियाँ गयी हैं। प्रमिला सुंदर-स्वस्थ पर एक सीधी सादी स्त्री है। प्रेमके प्रदर्शन में उसे ओछापन नज़र आता है। उस बेचारी को यह नहीं मालूम कि इस "शो-मेन-शीप" के जमाने में अन्य क्षेत्रोंकी भाँति दाम्पत्य के क्षेत्र में भी अब स्पर्द्धा है और आधुनिक पतिके मनको जीतने के लिए अब स्त्रीको पतिव्रता नहीं "अप-टु-डेट" होना पड़ता है।

प्रमिला की सादगी से ऊब कर महेन्द्र अपनी आफिस की कैशियर मिस सुषमा के प्रति आकृष्ट होता है। अपराध बोध से पीड़ित महेन्द्र अपने मित्र नाटा (जो बीस स्त्रियों से प्रेम कर चुका है) की बातको न मानकर प्रमिला के आगे घटस्फोट कर देता है। यहाँ प्रमिला यदि महेन्द्रको क्षमा कर देती और आगे उसमें अधिक रूचि लेने लगती, तो कदाचित् उनका दाम्पत्य बच जाता। पर प्रमिला महेन्द्र को तिरस्कृत करती है। महेन्द्रका आहत पुरूष अब खुल कर खेलने लगता है। दोनों के बीचकी खाई

बढ़ती जाती है और अन्तत: महेन्द्र प्रमिला को छोड़ देता है ।

"हर ज़िन्दगी किसी-न-किसी खूंटे से बँधी रहे तो वह अपना संतुलन बनाये रखती है, खूंटा टूट जाए तो जैसे अधर में लटक जाती है ।"[103] महेन्द्र की ज़िन्दगी भी अपना संतुलन खो बैठती है । सुषमा भी उसे सँभाल नहीं पाती । वह अपने समकक्ष अधिकारियों की बीबियों पर डोरे डालना शुरू करता है । मिसेज भगतकी ओर झुकना इसी ओर संकेत करता है । प्रमिला पागल हो जाती है । बीचमे नाटे के द्वारा दोनोंका निकट लानेका प्रयत्न होता है । महेन्द्र क्षणिक भावावेश तथा वासना के प्रवाह में बह जाती है । प्रमिला को गर्भ रहता है, पर महेन्द्र उसे स्वीकार करना नहीं चाहता क्योंकि वह सोचता है कि पागलपन के दौर में वह न जाने किस-किस से काला मुँह कर आई है । प्रमिला को पागलोंके अस्पताल में भर्ती किया जाता है । प्रमिला पप्पूके लिए तरसती थी, अत: जब वह दूसरे पुत्रको जन्म देती है तब उसकी साधारणता लौट आती है । पिता द्वारा प्राप्त बीमेकी सात हज़ार रूपये की राशि से प्रमिला दवाइयों की दूकान खोलना चाहती है और तदर्थ अपने पिताके एक परिचित के यहाँ दुकान का काम भी सीखती है ।

प्रमिला की इस आत्म-निर्भरता के द्वारा लेखकने संभावना का एक द्वार खोला है । बढ़ते हुए व्यक्तिवाद तथा उसके दुष्प परिणामों को यहाँ लेखकने बखुबी चित्रित किया है । अनेक पप्पू और प्रमिलाएँ इसके शिकार हो रहे हैं ।

आपका बण्टी ﴾1971﴿

"आपका बण्टी" मन्नू भण्डारी का स्वतंत्र रूपसे लिखा गया प्रथम उपन्यास है । इसके पहले सहलेखन में "दो-इंच-मुस्कान" नामक उपन्यास राजेन्द्र यादव ﴾लेखिका के पति﴿ के साथ लिखा था । हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर प्राय: यह आरोप लगाया जाता है कि उनमें अधिकांशत: स्त्री-पुरूष यौन-सम्बन्धोंको ही विश्लेषित किया गया है । प्रस्तुत उपन्यास में एक नये कोणको लिया गया है । बाल-मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यासों में इसके पूर्व कृष्ण बलदेव वैदका "उसका बचपन" ﴾1957﴿ मिलता है, परन्तु उसकी समस्या दूसरे प्रकारकी है । भीष्म साहनी कृत "कड़ियाँ" में "पप्पू" की स्थिति कुछ हद तक "बण्टी"-सी है, परन्तु उसमें लेखक का ध्यान पति-पत्नी के बीच बढ़ती दरार पर अधिक केन्द्रित रहा है और उसकी सहानुभूति भी प्रमिला से जुड़ी हुई है । जब कि प्रस्तुत उपन्यास में लेखिकाकी सहानुभूति व संवेदना का कलश बण्टी पर ढरता है । "संचेतना" द्वारा आयोजित एक गोष्ठीमें लेखिकाने स्वयं इस बातका इकरार करते हुए कहा था -- मैं दिखाना चाहती थी कि खंडित माता-पिताके बच्चे किन परिस्थितियों से गुजरते हैं । सबका अपना-अपना व्यक्तित्व होता है । इस सारी परिस्थितिमें बच्चों पर क्या प्रतिक्रिया होती है, यही दिखाना चाहती थी । मैंने ऐसे बच्चों को देखा है, तब बेचैन महसूस किया है । मैं उसीको पाठक तक पहुँचाना चाहती थी ।"[104]

"आपका बण्टी" की स्थूल कथा अत्यन्त संक्षिप्त है । आधुनिक एवं सुशिक्षित पति-पत्नी अजय-शकुन के अहं के टकराव तथा तनावमें सम्बन्ध -

विच्छेद की भूमिका का निर्मित होते जाना, वकील चाचा जैसे कुछ हितैषियों के प्रयत्नों के बावजूद उनके बीचकी खाईका बढ़ते जाना, अन्तत: सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना, अजय-शकुन दोनोंका पुन: अलग-अलग व्यक्तियोंसे विवाह-सूत्र में बँधना, माता-पिताके सम्बन्धोंको लेकर बण्टीके मनमें एक रहस्यमय जालका बनते जाना, और इन सबमें एक निर्दोष शिशु - बण्टी का निरंतर पिसते जाना, जो इनमें कहीं भी कारणभूत नहीं है । बण्टी न डॉ० जोशी के परिवारमें "एडजस्ट" हो पाता है, न अपने पिता के साथ ही । फलत: माता-पिता दोनों के रहते उसे होस्टेल में भर्ती किया जाता है । जिन बच्चोंके माँ-बाप बचपन में ही मर जाते है, वे ज़िन्दगीके थपेडों को खाते-झेलते किसी तरह अपना सफ़र तय कर लेते हैं, परन्तु माँ-बाप के रहते हुए भी जिन बच्चोंको उनके प्यार के लिए तरसना पड़ता है उनकी नियति और भी कठोर होती है । बण्टी एक ऐसा ही बच्चा है ।

आजकी प्रमुख समस्या है व्यक्ति के "अहं" का निरंतर बढ़ते जाना । स्त्री जहाँ एक और शिक्षित हुई है, वहाँ उसका "अहं" भी बढ़ा है । इन दो के "अहं - टकराव" में बण्टी जैसे बच्चोंको बलिका बकरा बनना पड़ता है । वे कहीं के नहीं रहते । उनकी कुण्ठाएँ दूसरे सामाजिक प्रश्नों को पैदा करती हैं । एक स्थान पर वकील चाचा शकुन से कहते हैं : "जब एक बार धुरी गड़ बड़ा जाती है तो फिर ज़िन्दगी लड़खड़ा जाती है ।"[105] प्रस्तुत उपन्यास अजय, शकुन और बण्टी के जीवन की इसी लड़खड़ाहट को व्यंजित करते हुए समाज को एक चेतावनी-सा देता है ।

टेराकोटा ‌(1971)

प्रयोगधर्मी कथाकार लक्ष्मीकांत वर्माका प्रस्तुत उपन्यास "टेराकोटा" आधुनिक शिक्षित नारीकी अभिशप्त नियतिको उसकी सारी रिक्तता और तिक्तता के साथ उभारता है । "पचपन खंभेलाल दीवारें" की सुषमा जहाँ पूर्णतया टूटी हुई प्रतीत होती है, वहाँ प्रस्तुत उपन्यास की मिति भीतर से टूटते हुए भी अपनी पारिवारिक प्रतिबद्धता एवं स्वतंत्र निर्णय-शक्तिके कारण आत्मिक गौरव से जगमगाती है ।

"टेराकोटा" इटालियन" भाषाका शब्द है, जो "टेरा" (Terra) और "कोटा" (Cotta) के योग से बना है । "टेरा" का अर्थ है मिट्टी और "कोटा" का अर्थ है मूर्ति ।[106] अत: "टेराकोटा" का अर्थ हुआ मिट्टी की मूर्तियाँ, मिट्टी के खिलौने । उपन्यास का प्रारंभ हस्तिनापुरकी खुदाई के साथ होता है । उसमें कुछ महाभारत के युद्धोत्तर कालके पात्रोंकी मूर्तियाँ मिलतीं हैं । अपाहिज कम्बोज सेनापति, उनकी अन्ध पत्नी, तीन पुत्रियाँ -- ऋजुमिता, ज्योतिमिता और श्रुतिमिता, पांडव सेनापति कैशिकेय और सामन्त रोहिताश्व की यह खंडित मूर्तियाँ एक प्रकार से हमारे ही प्रतिरूप हैं । रोहित के शब्दों में -- "आज भी दिल्ली में आदमी सँत्रस्त है, टूटा हुआ है, क्षत - विक्षत है, पंगु है । फर्क केवल इतना है कि आजकी पंगुता मानसिक है और आज से पहले हस्तिनापुर की पंगुता कायिक थी ।[107]

"टेराकोटा" का कथानक तिहरा है । मूल कथा रोहित और मितिकी है । इस मूलकथा के समानान्तर महाभारतोत्तर शांतिपूर्व के पात्रोंको लेकर ऋतुमिता और रोहिताश्व की कथा चलती है, जो अनेक में

मूल कथा से साम्य रखती है । इन दो कथाओंके अतिरिक्त एक तीसरी कथा गणेश-व्यास की है । ये लोग कम-से-कम दस-बारह बार उपन्यास के मंच पर अवतरित होकर कथाके नये सन्दर्भों, घटनाओंके घात-प्रतिघातों तथा पात्रोंकी प्रकृति एवं नियति के बारे में वाद-विवाद करते हैं । उपन्यासकी मूलकथा आधुनिक नारीकी गौरव-गाथा है । रोहित और मिति में भावनात्मक दृष्टि से अभिन्नता है किन्तु वैचारिक दृष्टिसे भिन्नता पाई जाती है । मिति जहाँ आधुनिक एवं साहसी है वहाँ रोहित परंपरावादी और भीरू है । रोहित निति में एक गृहिणी को खोजता है, परंतु मितिकी पारिवारिक आर्थिक विवशताएँ उसे नौकरीकी और खींच ले जाती हैं ।

पिता फालिज़ के बीमार, माँकी आँख का आपरेशन, विधवा बहन शोभा और उसकी बच्ची की जिम्मेदारी, छोटी बहन उमा और छोटे भाई रामकी शिक्षा-दीक्षा की चिन्ता, रोहित - मितिकी मित्रता, मि• बतराके निर्देशन में चल रहा रिहर्सल, दिल्लीके वर्किंग गर्ल्स हॉस्टेलका परिवेश, मिसेज खन्नाकी आत्महत्या, मि• खन्ना का विक्षिप्त हो जाना, मि• खन्ना के दो बच्चों बिकी और सिमी के दायित्वका मिति द्वारा स्वीकार, रोहितकी मिति और खन्नाको लेकर शंकित मनः स्थिति, मितिका आई• ए• एस• हो जाना, ट्रेनिंग के लिए इलाहाबाद जाना, फिर बारह वर्षों का अंतराल, मितिका अविवाहित रहते हुए कमिश्नरकी ऊँची कुर्सी तक पहुँचना, रोहित और मितिकी सहेली शीलाकी शादी, शोभा - प्रकाश का पुनर्विवाह, रामका एंजीनियर होना, डॉ• उमाका डॉ• नरेश से विवाह, मिति द्वारा सको आमंत्रित करना, उमाको

"ट्रेडिशनल ब्राइड" के रूपमें देखने की मितिकी अदम्य इच्छा, उमाकी शादीके समय मिति को दौरा पड़ना, बिदाके समय नदारद होकर अगले स्टेशन पर नव-दम्पतिको बिदा देना जैसी अनेकों घटनाएँ उपन्यास में चित्रित है ।

यहाँ मितिका संघर्ष अनेक मोर्चों पर है । "पारिवारिक द्वन्द्वता, नारीत्व की माँग, स्वतंत्र अस्तित्वका आग्रह, नौकरी और रोहितको समझने में वह जूझ रही है । सारी लड़ाई परम्परित मूल्य और मुक्त वातावरणकी माँग के बीच है । .... मितिके रूप में एक नये तेवर की आधुनिक नारी, एकदम क्राँतिकारी मूल्योंके साथ चित्रित हुई है । उसकी दृष्टि में नैतिकता के संकोचमें डूबा रोहित कायर और असाहसी है । मिति अपने समग्र मनोवेगोंके साथ जीनेका अधिकार माँगती है । वह परम्परित वैवाहित जीवन बिताने में असमर्थ है । .... मूल्यहीनता और मूल्यानु संक्रमण की इस बीसवीं शताब्दी में महानगरीय बोधके बीच जीती एक सुशिक्षित नारी के भीतर परिवारकी यह प्रति बद्धता, पारिवारिक मूल्योंके लिए वैयक्तिक मूल्योंकी बलि देनेकी आस्था संहिति और आत्मनुशासन की स्थिति विचित्र है, किन्तु अप्रामाणिक नहीं है ।"[108]

सूरजमुखी अँधेरे के (1972)

परम्परागत नारी मुद्रा के विपरीत नारी-मनका स्वतंत्र आलेखन तथा भाषा का एक विशिष्ट मुहावरा कृष्णा सोबती की अपनी पहचान है । "मित्रो मरजानी" की मित्रो जातीय-जीवन की दृष्टि से जहाँ अत्यंत गरम है, वहाँ इस उपन्यास की रत्तिका बरफका ठण्डापन लिए हुए है ।

शैशवकाल में किए गए अवाँछित बलात्कार से रक्तिका का सारा जीवन एक "फटी ज़िन्दगी" बनकर रह गया । "मछली मरी हुई" की शिरीं प्रसूति कालमें माँ की मृत्युसे सशंकित होकर पुरूष - समागम को भय की दृष्टि से देखने लगती है और इसी कारण समलैंगिक यौनाचार में लीन रहती है । प्रस्तुत उपन्यास की नायिका रक्तिका बचपनमें एक दुराचारी पुरूषकी वासना का भोग बनती है । शैशव-काल में घटित यह घटना उसके अंतर्मन में कहीं गहरे बैठ जाती है और इसी लिए ऐन मौके पर वह इतनी ठण्डी हो जाती है ﴾जातीय दृष्टि से﴿ कि उसके इस "जालिम ठण्डेपन" के शिकार पुरूष तड़पते रह जाते हैं ।

असाधारण सुन्दरता एवं स्मार्टनेस के कारण पुरूष उसकी तरफ बरबस खींचते चले आते हैं । हर पुरूष उसके विषयमें एक मृगतृष्णा पालता है और मोहभंग होने पर सोचता है कि वह औरत है भी या नहीं ? स्त्री प्रतिपल विषपान करती है और अमृतकी तलाशमें घूमती है । पर अमृत उसे कहीं नहीं मिलता । सर्वत्र एक लैंगिक - माँग मात्र मिलती है, उसके मनको छूनेका प्रयत्न कोई नहीं करता । सोलह पुरूष उसकी ज़िन्दगी में आते हैं, पर वे सभी उसकी जातीय शीतलताके शिकार होकर तड़पते रह जाते हैं ।

पुरूषों को आकर्षित करके तड़पाने में उसे आनंद आता हो, ऐसा नहीं है । कथ्य की दृष्टि से यह उपन्यास उग्रजी के "बुदुआ की बेटी" ﴾1928﴿ से ठीक इसी बिन्दु पर अलग पड़ता है । जहाँ प्रस्तुत उपन्यास की रत्ती अपने फटे बचपन के कारण अभिशप्त हो उस विभीषिका में जलती है, वहाँ "बुदुआ की बेटी" में रधियाको पुरूषोंको ललचाकर छोड देने में एक अमानुषी आनंदकी प्राप्ति होती है ।

रत्ती की यह ग्रंथि अन्ततः दिवाकर नामक एक विवाहित पुरुष के द्वारा टूटती है और उसे वह समर्पित हो जाती है, किन्तु वहाँ उसकी कोमलता एवं स्त्री-सहज संस्कार आड़े आते हैं। अन्तमें वह दिवाकर से कहती है -- "मैं जुड़े हुए को नहीं तोड़ूँगी। विभाजन नहीं करूँगी। मेरी देह अब तुम्हारी प्रार्थना है दिवाकर।"[109] इस प्रकार यहाँ एक मनोवैज्ञानिक गुत्थी के द्वारा सोबतीजीने रक्तिका- रत्ती की वेदना को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

बेघर (1972)

ममता कालिया ने "बेघर" में पारिवारिक जीवनकी निराशाओं, कुण्ठाओं, अंतर्विरोधों और असंगतियोंको यथार्थ रूपमें चित्रित किया है। इसमें एक छोटी-सी दुनिया - परिवारकी कहानी है किन्तु "गिरिराज किशोर की भाँति ममता कालिया के उपन्यासकी छोटी दुनिया बड़ी दुनिया से पूरी तरह से कटी हुई नहीं है।"[110]

परमजीत एक छोटे से दूकानदारका बेटा है। वह कच्ची-पक्की अंग्रेजी बोलनेवाला, अधकचरी मानसिकता का, औसत बुद्धिवाला इन्सान है। पढ़ने में हमेशा तृतीय श्रेणी आती रही। बम्बई की एक कम्पनी में चीफ एजन्ट हो जाने पर वह सोचता है कि उसका सुन्दर सजा - सजाया घर हो, एक सुन्दर-सी बीवी हो, एक-दो बच्चे हों, पगड़ी पर एक छोटा-सा मकान और एक छोटी-सी मोटर हो तो फिर क्या कहने।

परन्तु उसके विचार दकियानुस और पुराने हैं। वह एक लड़की के कुँआरेपन को पुरानी कसौटी पर परखता है। बम्बई आने पर उसका

सम्बन्ध संजीवनी से होता है । वह एक सुन्दर, सुशील और चरित्रवान स्त्री है, किन्तु उसके साथ पहली बार संभोग करने पर परमजीतके मनमें यह बात बैठ जाती है कि वह उसके जीवन में आनेवाला प्रथम पुरुष नहीं है क्योंकि संभोग के समय न तो संजीवनी चीखती है, न पुकारती है, न ही उसे खून आता है ।

यह संशय उसके दिलो-दिमाग पर इतना हावी रहता है कि वह संजीवनी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, जब कि वह योनि के ज़रा-से फैलाव के बावजूद भी कुँवारी होती है । अक्षत यौवना के सम्बन्ध में हमारे समाज में आज भी ऐसी कई गलत मान्यताएँ मिलती है । वस्तुत: आज जब लड़की खेलती-कूदती है, साइकिल-स्कूटर चलाती है, व्यायाम करती है, बीस-बाइस के बाद शादी करती है, ऐसी अवस्था में झिल्ली (**Maidenhead**)[111] का तब तक सुरक्षित रहना असंभव है ।

संजीवनीके बाद परमजीत रमा नामक एक फूहड और कंजूस लड़की से शादी करता है जो उसके जीवन को नरक-तुल्य बना देती है । वह एक औसत पति और औसत बाप तो बन जाता है पर अपनी पहचान खो बैठता है । संजीवनी से कटकर वह मानो अपनी निजता ही खो बैठता है । रमा संकीर्ण, स्वार्थी और दकियानुसी विचारों की स्त्री है । वह इतनी कंजूस है कि परमजीत की अभिरूचिका कभी कोई ध्यान नहीं रखती । इसी कंजूसी के कारण एक दिन परमजीत की मृत्यु हो जाती है । इस प्रकार रमा घरका गणित सही करनेकी धुनमें स्वयं अपने आपको घरसे बेघर कर लेती है ।

प्रश्न और मरीचिका (1973)

"प्रश्न और मरीचिका" राजनीतिक - परिवेश से युक्त उपन्यास है । उसका प्रारंभ सन् 1947, 15 अगस्त के आज़ादी के जश्न से होता है । सन् 1962-63 तक की घटनाओंका उसमें समावेश है । बम्बई और दिल्ली के परिवेशको उसमें लिया गया है । राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक स्थितियों के साथ बम्बई के फिल्मी माहौल को भी उसमें लिया गया है । वर्माजीकी किस्सागो प्रतिभाने एक बहुत बड़े फलक को - घटनाओं और स्थितियों को देखते हुए - उपन्यासका विषय बनाया है ।

आई॰ सी॰ अेस॰ अफसर जयराज उपाध्याय और उनकी विदेशी पत्नी से उत्पन्न उदयराज की शिक्षा-दीक्षा बम्बई में होती है । पिता जयराज दिल्ली में भारत सरकार के सेक्रेटरिएटमें किसी ऊँचे पद पर अफसर हैं । प्रारंभ में उदय अपने पितासे कुछ खींचा हुआ रहता है । कुछ आदर्शवादी सपने उसकी आँखों में तैर रहे हैं, परन्तु बादमें वह व्यवहारकी नीति का अनुसरण करता है ।

स्वाधीनता-समारोह, शरणार्थी-समस्या॰ उदय के साथ एक मुस्लिम लड़की का प्रेम-प्रकरण, लीगी नेताओं की दरमियानगिरी के कारण उसमें असफलता, मेवाराम, शिवलोचन शर्मा, रूपा आण्टी, मुस्तफा कामिल, केसरवाई, रामकुमार गाबडिया जैसे अनेक पात्रों से लिपटी हुई घटनाएँ, कॉंग्रेस, सोसलिस्ट, जनसंघ, कम्यूनिस्ट आदि राजनीतिक मतवाद और उससे सम्बन्धित चर्चाएँ और भ्रष्टाचार आदि को इस उपन्यास में उनके यथार्थ - रूपमें चित्रित किया गया है ।

"प्रश्न और मरीचिका" में यह बताया गया है कि स्वाधीनता - प्राप्ति के बाद राजनीति में जो आमूल परिवर्तन आना चाहिए वह नहीं आया । आज़ादी महज़ सत्ताका हस्तान्तरण मात्र बनकर रह गयी । जिन आई॰ सी॰ एस॰ अफसरों की निन्दा करते हुए पंडितजी अघाते नहीं थे, उन्हीं से अब कहा जाता था -- "मिस्टर उपाध्याय, हमें देशका निर्माण करना है । यह हमारा सौभाग्य है कि हमें देवता-स्वरूप पंडित जवाहरलाल नेहरूका शासन मिला है - पण्डित जवाहरलाल नेहरू महात्मा गांधी के मानस पुत्र हैं । महात्मा गांधीने जिस साधना और तपस्याका मार्ग दिखलाया है उस पर चलकर हम विश्व के अन्य राष्ट्रोंका नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं । इस ओर मैं आप अधिकारियों के सक्रिय सहयोगकी अपेक्षा करता हूँ ।"112 देशको अंगठित करके जहाँ सर्वहारा वर्गके उत्कर्षकी कुछ योजनाएँ होनी चाहिए वहाँ जवाहर - भक्ति और विश्व नेतृत्वकी बातें चल रही थीं ।

राजनीति एक व्यवसाय बनती जा रही है । उपन्यासका एक पात्र राम राज कहता है -- "भारत वर्ष स्वतंत्र क्या हुआ वकालत का पेशा ही ठप हो गया है । जमींदारी तो जमींदारी उन्मूलन में निकल गई, सत्तर बीघे खेती बची है, लेकिन खेतीमें आजकल कुछ रक्खा नहीं है । उल्टे घर से देना पड़ता है । तो सिवा नेतागिरी के और किसी दूसरे पेशे में फायदा नहीं है ।"113 भारत सरकारमें ऊँचे पद पर विराजित जयराज उपाध्याय अपने भतीजे विद्यानाथके राजनीति - प्रवेश पर कहते हैं -- "अंग्रेजी में कहावत है कि लुच्चों और लफंगो के लिए ही राजनीति है । तो चलो हमारे घर में भी एक विधायक बन रहा है ।"114

राजनीति में कैसे-कैसे भ्रष्ट लोग आ रहे हैं, उसका संकेत तो रेणुके "मैला आँचल" में ही मिल गया था। देशके स्वाधीनता संग्राम में काम आनेवाले शिवलोचन शर्मा और मुहम्मद शफी जैसे लोग पीछे छूटते जा रहे हैं और रूपा आण्टी और मुस्तफा कामिल जैसे लोग ऊपर उभर रहे हैं क्योंकि राजनीति अब सिद्धान्तवादियों का क्षेत्र नहीं समझौतावादियों का क्षेत्र बनती जा रही है। राजनीति अब सेवा का साधन नहीं, हेरा-फेरी और अंदे-फन्देका "फुल टाईम जोब" हो रही है।

तमस §1973§

इस देशकी राजनीति में साम्प्रदायिक ज़हरका सूत्रपात्र अंग्रेजोंकी कूटनीति से हुआ था। यह ध्यानव्य रहे कि साम्प्रदायिक दंगे अँग्रेजी शासन की ही देन है। उनकी कूटनीति के परिणामस्वरूप हमारे देशमें अनेक बार साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं। भीष्म साहनीकृत "तमस" में इस साम्प्रदायिक तमस के कारणोंकी बड़ी सूक्ष्म छानबीन की गयी है। "मोब सायकोलोजी" अफ़वाहों तथा लोगों की कोमल भावनाओं का राजनीतिक उपयोग कितना भयंकर हो सकता है, इसका अनुभव हमें "तमस" की पाँच घोर हत्याकांडपूर्ण दिनोंकी कथासे होता है।

उपन्यास के प्रारंभ में मुराद अली नत्थू चमारको पाँच रूपये देकर एक सुअर मरवाता है। इसके लिए वह डॉक्टर सालोतरी का हवाला भी देता है। बादमें इसी मरे हुए सुअरका उपयोग साम्प्रदायिक आगको हवा देनेके लिए होता है। नत्थू चमारको दंगों में मार दिया जाता है। उपन्यासके अंतमें वही मुराद अली शांतिके लिए अपील करते हुए दृष्टिगोचर होता है।

साम्प्रदायिक दँगे किस प्रकार होते है, उसमें गरमा गरमी किस प्रकार आती है, मन्दिरों, मस्जिदों और गुरूद्वारों में असला {लड़ाईका सामान} किस प्रकार संग्रहीत किया जाता है, दोनों तरफ कैसी तड़ामार तैयारियाँ होती हैं, वानप्रस्थीजी हिन्दुओंको भड़काते हैं, उधर मुल्ला मौलवी तथा गोलड़ा शरीफ के पीर मुसलमानोंको उलसाते हैं, मास्टर देवव्रत, रणवीर, धर्मदेव, बोधराज, इन्द्र, शंभू आदिको तालीम देते हैं, मुर्गोंको कटवाकर हिंसा के पाठ पढ़ाए जाते है, तेलकी कड़ाहियाँ चढ़ायी जाती हैं आदि घटनाओंसे कौमी - जहर सामाजिक जीवन की रगोंमें इतना फैल जाता है कि अच्छे-खासे लोग भी होशोहवास खो बैठते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण शाह नवाज़ के किस्से में लेखकने बताया है। कौमी जहर से बहुत - ऊपर ऐसा शाहनवाज़ अपने हिन्दू मित्र रघुनाथ और उसकी पत्नीको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देता है, परन्तु उसी रघुनाथ के हिन्दू नौकर मिलखीको अचानक अकारण ही लात मारकर सीढ़ियों से गिरा देता है। वह खुद अपने इस कार्यको नहीं समझ पाता पर अचानक एक भभूका-सा दिल में उठा था।[115]

अन्ततोगत्वा यह साम्प्रदायिक दँगे अंग्रेज अधिकारी डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड के द्वारा ही दबाये जाते हैं और वह इस प्रकार दोनोका हितचिंतक बनता है। रिचर्ड एक कुशल प्रशासक है। जब शहर में हिन्दु मुसलमानों के बीच फिसाद जो जाता है, तब उसकी पत्नी लीज़ा के पूछने पर कि उसने फिसाद क्यों होने दिया। तब रिचर्ड हँसकर जवाब देता है -- "क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ़ लड़ें, मेरा खून करें। ..... कैसा रहे अगर इस वक्त ये आवाजें मेरे घरके बाहर उठ रही हों,

और ये लोग मेरा खून बहाने के लिए संगीने उठाए बाहर खड़े हों ?[116]

तात्पर्य यह कि अंग्रेजों के ज़माने में दंगे अंग्रेज करवाते थे, आज ये दंगे राजनीतिक पार्टियों के लोग करवाते हैं जिसमें नत्थू, बन्तो, हरनामसिंह, इब्राहिम, इत्रफरोश, इकबालसिंह, बूढ़ा लुहार, करीम बख्श, प्रकाशो जैसे निर्दोष लोग मारे जाते हैं ।

मुरदाघर ॥1974॥

व्यंग्य की सूक्ष्मता से परिचित पाठक जगदम्बाप्रसाद दीक्षित कृत "मुरदाघर" को एक बहुत सशक्त व्यंग्य मान सकते हैं । यह व्यंग्य है -- हमारी समाज - व्यवस्था पर, राज्यतंत्र पर, लोकतंत्र पर, हमारी सभ्यता और संस्कृति पर, हमारे सौन्दर्य-बोध पर, हमारे अस्तित्व पर ।

डॉ॰ अजित कुमार इसे हिन्दी उपन्यास लेखन का एक उच्च-शिखर मानते हुए उसके लेखक को कुप्रिन, गोर्की, बाल्ज़ाक, प्रेमचन्द जैसे कथाकारोंकी पंक्ति में बिठाते हैं ।[117] डॉ॰ पारूकान्त देसाई के शब्दों में पस्तुत उपन्यास में "नियोन लाइट से जगमग सफेद इमारतोंवाली सफेदपोश बस्ती के कॉन्ट्राक्ट में बम्बई की एक गन्दी, घिनोनी, सडांध से भरी हुई झोंपडपट्टी की सच्ची यथार्थ तस्वीरको लेखक ने इस खूबी से उभारा है कि हमारे सभ्य समाज की परत-दर-परत खुलती गई है और यह अपने नग्न स्वरूपके साथ चेतनाकी संवेदनाशीलताके कठघरे में आकर उपस्थित हो जाता है । महानगरोंकी इमारतोंके समान्तर फुटपाथों पर भी लाखों - करोड़ों मनुष्य बसते हैं, जो कुत्तों, कौओं और रेंगते हुए कीड़ों से भी बदतर ज़िन्दगी बसर करते हैं और जिन्हें समाजकी जूठन और गन्दगी के अतिरिक्त

कुछ समझा नहीं जाता । उन लोगोंकी इच्छा-आकांक्षाओं, सपनों, आशाओं-निराशाओं, अच्छाइयों-बुराइयोंको, उनकी अभागी अपाहिज़ ज़िन्दगी की अभिशप्त नियतिको उनकी सडांध से भरी धूल और कीच में बरबस औंधी पड़ी, फुटपाथ पर एकदम सपाट गिरी-लेटी मज़बूर ज़िन्दगीयों के आँसू-रीते दर्दको ज्यों का त्यों उनके अपने परिवेश एवं शैलीमें चित्रित कर लेखक ने अपने दुस्साहस का परिचय दिया है ।"118

इसमें एक-एक दो-दो रूपयेमें अपने शरीरका सौदा करनेवाली पार्वती, लैला, मैना, मरियम, बशीरन जैसी वेश्याएँ है, शारीरिक श्रमसे कतराकर रातोंरात हाजी शेठकी तरह धनवान होनेके सपनों में राचनेवाले पोपट जैसे जुआरी, शराबी, मवाली पति हैं, इसमें पुलिसको किश्तें देनेवाले किस्तय्या जैसे शराबवाले - मटकेवाले भी हैं जो गरीब मज़दूरों की कमाई पर पलते हैं, इसमें गन्या, राजू, गोपू, मुहम्मद जैसे होटल के कचरेमें रोटी, पाऊँ या हड्डीके टुकडों को ढूँढनेवाले भिन भिनाती मक्खियों जैसे बच्चे हैं, इसमें नोटों के बण्डल अधिकारीयोंको थमाकर असहाय गुमराह लड़कियों को "होम" से निकालकर बाज़ार में बिठानेवाले भाई है, तात्पर्य कि मुरदाघर वह स्थान नहीं, जहाँ मुर्दे रखे जाते हैं, वरन् यह गन्दी, घिनौनी, घृणित बस्तियाँ ही मुरदाघर हैं ।

इन सब के बावजूद लेखकने मानवताके झिल मिलाते दीयोंके अस्तित्व-संघर्ष एवं मानवीय जिजीविषाके द्वन्द्वको एक मानवीय संवेदनशील दृष्टि एवं दर्दके साथ उकेरा है, जिसके अभाव में कृति एक सामान्य उपन्यास बनकर रह जाती । अनेक मार्मिक स्थलों पर लेखकने अपनी प्रतिभा की उँगली रख दी है ।

छाया मत छूना मन ﴾1974﴿

हिमांशु जोशी आधुनिक हिन्दी साहित्यके एक सशक्त उपन्यासकार हैं। उनका प्रस्तुत उपन्यास नगरीय जीवनकी विसंगतियों, यौन-स्वच्छन्दता एवं विकृतियोंको चित्रित करता है।

"छाया मत छूना मन" वसुधा के जीवन की करूण-कथा है। वसुधाका संपूर्ण जीवन मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्षों एवं यातनाओं में ही बीतता है। संघर्ष और पराजय उसके जीवनका पर्याय बन चुके हैं। शैशव अवस्था में ही भारत-विभाजनकी घटना घटित हुई। उसका परिवार लाहौर से लुधियाना आ गया। आगजनी और दंगों के कारण उसके पिताकी दूकान जल कर राख हो गयी। तत्पश्चात् कुछ दिनों में उनकी असामयिक मृत्यु से उसकी माँ परबीन तथा छोटी बहन कंचन अनाथ हो जाते हैं।

उसकी माँ साहसी है। वह अपने आकर्षण और गठीले स्वस्थ शारीरिक सौन्दर्य के कारण रेल्वे के क्लर्क किशनदास से दूसरा विवाह कर लेती है। किशनदास एक दिन परबीनको अपने "बोस" के पास रातभर के लिए अकेले छोड़कर चला जाता है क्योंकि "बोस" से उसके आर्थिक स्वार्थ जुड़े हुए हैं। इसके बाद तो उसके यहाँ सदैव "कीर्तन" चलता रहता है। आँख का पानी उतर जाने के बाद परबीन अपनी लड़कियों - वसुधा और कंचन को भी कमाने के लिए उकसाती है : "अरी मरजानी, तुझसे कुछ क्यों होगा? जिसे दो वक्त पेटमें ठूँसने के लिए रोटियाँ मिल जायं, वह क्यों करे मिहनत। देख न सामने वेद के घर नौ-नौ सौ रूपये महीने आ रहे हैं। तीनों लड़कियाँ है, तीनो क्या कर रही है?"[119]

वसुधा के स्टेप पगधर रिटायर्ड होकर जो चारपाई पकड़ लेते हैं, तो फिर कभी नहीं उठते । ग्रेजुएट वसुधा नौकरी के लिए निकलती है, परंतु शुरू में उसे निराशाही हासिल होती हैं । उसके सामने जो प्रस्ताव आते हैं उससे उसका सपूर्ण व्यक्तित्व हिल जाता है -- "तुम्हें सारे कपड़े उतार कर फोटू खिंचवानी पड़ेगी"[120] सुन कर वह रो पड़ती है ।

जब तक उसे नौकरी मिलती है, तब तक तो उसकी बहन कंचन "गलत रास्ते" पर चलते हुए जीवन के उस मोड़ तक पहुँच जाती है जहाँ पहुँचकर कोई भी व्यक्ति वापिस नहीं लौट सकता । वह कैबरे करती है, न्यूड फोटो खिंचवाती है, ब्लू फिल्मों में भी काम करती है । अंतमें कंचन के ही लिए उसे चार-पाँच हजार रूपये कर्ज लेने पड़ते हैं । इस कर्ज को पानेके लिए वसुधाको अपनी आफिस के एक अधिकारी मि॰ चावलाके साथ सिमला चार रातें रहना पड़ता है । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक शिक्षित मध्यवर्गीय नारी के आत्म-संघर्ष की कहानी है ।

यह भी नहीं ॥1975॥

"यह भी नहीं" कथाकार महीपसिंह का बम्बई के महानगरीय जीवनकी विभिन्न स्थितियों को चित्रित करनेवाला उपन्यास है । लेखकने इसमें एक विस्तृत फलक को लिया है । इसमें प्रमुखतः मध्यवर्गीय और प्रसंगतः उच्च और निम्नवर्गीय जीवनका चित्रण किया है । मध्यवर्ग का भी वह तबका जो बम्बई में देशके विभिन्न भागोंसे आकर बम्बईका होने लगता है । मुख्यतः बम्बई पहुँचनेवालोंको बम्बई कुण्ठाएँ देती हैं । कुण्ठा का अनिवार्य परिणाम "यह भी नहीं" की मनःस्थिति है । व्यक्ति एक

स्थिति को चुनता है और कुछ समय बाद महसूस करता है कि यह स्थिति भी उसके लिए उचित नहीं, उसके लिए तो "वह" स्थिति ठीक रहेगी । इस प्रकार व्यक्ति एक-के-बाद एक अनेक स्थितियों से गुजरता हुआ, सदैव अपनी साम्प्रतिक-स्थिति से असंतुष्ठ रहता है । इसके पात्रों की नियति मंजिल पर पहुँचना नहीं वरन् सतत चलना और जूझना है ।

उपन्यास की कथा खार-स्थित ग्रीन होटल से शुरु होती है जिसमें व्यक्ति हो या परिवार सभी भिन्न-भिन्न कमरों के नामसे जाने जाते हैं । इन नम्बरों में पंकज जैसे बम्बई में अध्यापन के लिए सद्य: आये व्यक्ति भी होते हैं और शान्ता-टोनी जैसे परिवार भी । इसमें विकास, मधु, अशरफ, बुठा धीरू, दलवी, बूढा शेठ, पोपटमल जैसे पुरूष और सलीमा, कल्याणी, पद्मा जैसी औरतें हैं। कल्याणी, फिल्मों के एकस्ट्राका रोल करनेवाले मोटे चक्रवर्ती से जुड़ी हुई है तो पद्मा के दिन दलवी के कमरे में और रातें विकास तथा मधु के कमरे में गुजरती हैं । ग्रीन होटल की औरतें या तो रखैल हैं या भागी हुई हैं । इनमें से कुछ की कहानियों को लेकर उपन्यासके कथानक का संगठन हुआ है ।

शान्ता दिल्लीसे अंग्रेजीके प्रोफेसर सोहन के साथ भागकर बम्बई आती है । सोहन से विवाह करती है और टोनीको जन्म देती है । स्वच्छन्द सेक्स उसकी रूचि है और पत्नी के रूपमें एक समस्या भी । जीत खेसला, विकास, प्रीतमलाल, प्रभाकर राव, जैसे अनेक मर्दों के साथ जुड़कर भी अन्दर से अतृप्त ही रहती है । दिखावेकी ज़िन्दगीके आगे वह भरभराकर टूट जाती है । वह विकास के साथ फिल्म बनाना चाहती है, प्रीतमलालजीके लन्दन स्थित होटल की सहायक मेनेजर बनना चाहती है, लेकिन कुछ नहीं बन सकती । उसकी ज़िन्दगी एक बाँह से दूसरी बाँह की यात्रामें भटक कर

रह जाती है और अन्तत: रोज शामको आ जानेवाले बुखारको समर्पित हो जाती है । उसका यह यायावरी यौनाचार सोहन और टोनी में भी अनेक कुण्ठाओंको जन्म देता है । टोनीकी स्थिति "आपका बण्टी" के बण्टी से भी गयी-गुजरी है क्योंकि उसे अपनी माँ की कलंक-गाथा के बोध से भी गुज़रना पड़ता है ।

"यह भी नहीं" के कथा-संगठन में पंकज के माध्यमसे अध्यापकीय जीवन की विडम्बनाओं तथा शिक्षा संस्थाओं में चल रहे व्यापक भ्रष्टाचार एवं गुटबन्दीका भी पर्दाफाश किया है । आजकल के ये कॉलेज किस प्रकार कमाऊ तथा भ्रष्ट प्रबन्धकों के षड्यंत्रों के गढ़ होते हैं -- जी•एन•के• कॉलेज इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है । पंकज, भामाराम पाठक, डॉ• माणे, केदार फोर्ड जैसे कुछ स्मरणीय चरित्र इस विस्तृत प्रकरण में सामने आते हैं । पंकज एक ईमानदार अध्यापक के रूपमें निरंतर सुविधाओं और सुरक्षा के पथको त्यागकर असुविधा और असुरक्षा के पथका वरण करता है ।

उपन्यास में पंकज से जुड़नेवाली तीसरी कथा डॉ• प्रभातकुमार पंडया और सन्ध्याजीकी है । गुजरात विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डॉ• प्रभातकुमार पंडया ब्लड - कैंसर के मरीज होकर बोम्बे होस्पिटलमें चिकित्सा करा रहे हैं। डॉ• पंडया प्रखर बुद्धिजीवी हैं और सन्ध्या उनकी समर्पिता पत्नी हैं । "हमारे साहित्य में विद्रोह का स्वर" विषय पर पंकज की डॉ• पंडयासे चर्चा होती है । इस विचार-विमर्श के फलस्वरूप कहा गया है कि आज के लेखकका आदर्श तुलसी नहीं कबीर है और आज जो भारत बन रहा है या बनना चाहता है वह मनु, शंकराचार्य या तुलसी का भारत नहीं है बल्कि बुद्ध, कबीर, नानक और नामदेव का भारत है ।

पंकज से जुड़नेवाला चौथा परिवार उसकी शिष्या सुमीका है । सुमी एकसुन्दर, सुशिक्षित नवयुवती है जो अभाव, असुरक्षा और अंधकारमय भविष्यसे घिरी हुई हैं । पिता पागलखाने में है, रिश्तेदार सबकुछ स्वाहा कर चुके हैं । अकेली माँ जीवन-निर्वाह के लिए जूझ रही है । भोपाल में एक नितान्त अयोग्य लड़के से उसका विवाह होनेवाला है । पंकज को वह इन स्थितियों से उबारने के लिए खूब अनुभव-विनय करती है । वस्तुत: सुमी के द्वारा लेखकने हज़ारों-लाखों अभावग्रस्त, सुन्दर, सुशिक्षित कन्याओंके विवाहकी गंभीर समस्या को उकेरा है ।

उक्त घटनाओं और स्थितियों के साथ लेखकने टैक्स की चोरी करनेवाले शेठ - साहूकार, उनसे घूस लेनेवाले अधिकारी, रेलवे प्रशान्ब से लेकर आम प्रशासन तक भ्रष्टाचार की व्यापक समस्या, "मुंबई आमची आहे" के प्रादेशिक नारे और तोड़ फोड की समस्या, बम्बई में मकानोंकी भीषण समस्या, बाजारू फिल्मों के निर्माण द्वारा जनता को मूर्ख बनाना, क्लबों और होटलोंकी कृत्रिम व भ्रष्ट ज़िन्दगी, पश्चिम की भोंडी नकल और अंतमें पिछले एक-दो दशकों में उत्पन्न, बुद्धिजीवियों के लिए चुनौती स्वरूप नित्य नये उदित होनेवाले भगवानोंकी समस्या आदिका समावेश भी प्रस्तुत उपन्यास में किया है । इस प्रकार "यह भी नहीं" का वस्तु-फलक काफी विस्तृत हो गया है । महानगरीय जीवन के प्राय: सभी आयामों को इसमें चित्रित किया गया है ।

अपने लोग (1976)

"अपने लोग" हिन्दीके सिद्धहस्त कथाकार डॉ॰ रामदरश मिश्रका नगरीय परिवेश एवं नगरीय बोधको रूपायित करनेवाला उपन्यास है ।

प्रमोद शुक्ल जो मूलत: गोरखपुर के निकट किसी गाँव के हैं, दिल्ली में एक कॉलेज में अध्यापक हैं। बीस साल दिल्ली में रहने के बावजूद उन्हें अपने खेत-खलिहान, पोखर आदि इतने प्रिय हैं कि दिल्ली में स्वयंको प्रवासी महसूस करते हैं। माँ के श्राद्ध पर पिताके आग्रहको वे टाल नहीं पाते और गोरखपुर के एक कॉलेज में रीडर होकर आ जाते हैं। उनका दिल्ली से गोरखपुर लौटना उनके परिवार और बच्चोंको अच्छा नहीं लगता। यहाँ आकर उन्हें एक विचित्र अनुभव होता है। पहले दिनके बादकी पहली सुबह उठते ही उन्हें अचानक अकेलेपनकी भावना कचोटने लगती है। उन्हें अनुभव होता है कि अब तक जो गाँव बड़ी तड़प के साथ उनके भीतर जिन्दा था वह उन के बाहर गाँव से दूर रहने के कारण था। दूसरे गाँव में अब माँ भी नहीं थी, जहाँ वे अपना सारा बड़प्पन भूलकर बच्चा बन जाते थे।

गोरखपुर से तेरह मीलकी दूरी पर उनका गाँव है। पिताके कहने के बावजूद वे गाँवके खेत - खलिहान का ध्यान नहीं रख पाते क्योंकि वस्तुत: खेती मे उनकी कोई विशेष रूचि नहीं थी और लेखक-प्राध्यापक होने के नाते समयाभाव की स्थिति हमेशा बनी रहती है। दिल्ली में रातदिन साहित्य, कला, राजनीति आदि पर चलनेवाली गोष्ठियाँ उन्हें याद आती हैं। उसकी तुलना में गोरखपुर के कार्य-व्यापार उन्हें घिनौने और उच्चे प्रतीत होते हैं।

उपन्यासकी दूसरी धुरी है प्रमोद शुक्ल का अपना पारिवारिक संसार। उनकी पत्नी संज्ञा समर्पिता ही नहीं, बल्कि जीवन्तता और धैर्यकी मूर्ति है। प्रमोदके घर तरह-तरह के लोग आते हैं, सबका वह यथाशक्ति एवं यथा संभव स्वागत करता है। परन्तु समस्याकी कड़वाहट तब सामने आती है

जब उनके भाइयों की खुदगर्जी प्रकट होने लगती है । प्रमोदके दोनों भाई रमेश और श्याम उनके घरको एक प्रकारका रक्षागृह या विश्राम केन्द्र समझ बैठते हैं । रमेश अपनी पत्नी को इलाज के लिए बच्चों सहित भेज देता है । वह महीनों वहाँ रहती है । दूसरे भाई श्याम में मुकदमें बाजीका जोश ठाठें मारने लगता है और वह अपने भाईकी प्रतिष्ठा और पैसों के बल पर मुकदमा लड़नेकी ठान लेता है । एक नौकरी पेशा प्राध्यापक जो अपने परिवार का बोझ भी मुश्किल से उठा पाता है, उस पर इतना कुछ लाद दिया जाता है कि उसके परिवारकी आर्थिक गाड़ी चरमराने लगती है । इन तमाम मारों के ऊपर सबसे कष्ट दायक मार यह है कि प्रमोदका सबसे बड़ा लड़का आवारा व निठल्ला निकल जाता है । पढ़ने के सिवा सब बातों में उसका मन लगा रहता है ।

उपन्यासकी तीसरी धुरी है प्रमोद के आसपासका परिवेश । असली रणक्षेत्र तो यही है । गोरखपुरकी कष्टमय, मूल्यहीन व बीभत्स ज़िन्दगी उन्हें भीतरसे तोड़ देती है । कॉलेज की गन्दी राजनीति और गुटबन्दी से उनके भीतरका लेखक कसमसाने लगता है । विलास, बी॰ लाल और पागल उमेश से उन्हें सहानुभूति होती है । डॉ॰ सूर्य जितना ही क्रूर, अधम और चरित्रहीन है उतनी ही समाज में उसकी शाख व धाक है ।

उपन्यास के अंतमें सरगर्मीका वातावरण बताया है । कांग्रेसी उम्मीदवार मंगलसिंहकी विजय होती है । उसका जुलूस निकलता है । पागल उमेश तक उत्साहित हैं । पर प्रमोद सबसे पीठ फेर कर बेतहाशा साइकिल पर राप्तीके तटमें उस पार जा बैठता है और "अपने लोग" का चिंतन खुलने लगता है ।

नंगा शहर §1977§

भीमसेन त्यागीका उपन्यास "नंगा शहर" एक भयंकर दुस्वप्न-दिवा स्वप्न से युक्त फैण्टसी उपन्यास है । आजके मूल्य-मान, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति, वस्तुवादी चेतना, स्वार्थ एवं अहंकी केन्द्रीयता के आधार पर लेखकने सन् 2000 की कल्पना की है । इससे काफी पहले एडल्स हक्सलेने "ब्रेवन्यू वर्ल्ड" और जार्ज आरवेलने "1984" में ऐसे प्रयोग किए हैं । यह कल्पना आशंका प्रेरित है, अत: दुखद और भयप्रद है । हम आखिर किधर जा रहे हैं ? तीसरे विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ा यह जगत -- और उसके आणविक परीक्षण, शस्त्रास्त्र की स्पर्द्धाएँ -- कहाँ अटकेगा ? मौत के ये सौदागर उसे कहाँ ले जायेगे ? क्या यह भावी युग अमरीकामय होगा ? बॉस, रोकी, चेंजीन, फ्यूचरो लोजिस्ट आदि शब्दोंका प्रयोग आखिर क्या बताता है ? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्क में कौंध जाते हैं ।

इस शताब्दी के आखिरी दशक के कोई एक वर्ष के कोई एक दिनको यहाँ लिया गया है । इसमें आजकी पूंजीवादी व्यवस्थामें पलता उसके प्रतीक स्वरूप एक विराट, भयावह और नंगा शहर है । यह उपन्यास समूची अर्थ-सत्ता और सत्ता-व्यवस्था के गुप्त संचालक और अपने समयके सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तिके रहस्यमय क्रिया कलापकी कहानी है । लेकिन इसके समानान्तर एक और भी कहानी है, जिसका इस सारी अराजकता और अमानवीयता के बीच एक सकारात्मक मूल्य है । इस प्रकार यह इस पूंजीवादी व्यवस्थाको झेलनेवाले एक स्वाभिमानी युवक का आत्म संघर्ष है ।

उपन्यासके प्रारंभ में ही कहा गया है -- "रोज मर्रा के काम की चीजों के अलावा खूब सूरती, ईमानदारी, सचाई - यानि हर चीज जो बिकाऊ है, इस मार्केट में मिल जाती है ।"[121] प्रेम एक बहूदा सवाल बन गया है । उपन्यासका नायक " मैं " जिस फायरप्रूफ प्लास्टिक के फ्लैट में रहता है, वह इतना हल्का है कि चाहे तो कोई उसे समेटकर उठा ले जा सकता है । समुद्री वनस्पतिसे बना भोजन इतना हल्का कि आप एक मिनट में उसे पी सकते हैं । कपडों को एक बार इस्तेमाल करके फेंक दिये जाते हैं । यहाँ मजबूत और टिकाऊ चीजों का महत्व नहीं, आकर्षक, सस्ती और जल्दी समाप्त होनेवाली चीजोंका महत्व है ।[122]

इस दशक के वैज्ञानिकों की सबसे बड़ी उपलब्धि है -- मृत्यु पर विजय । इस आविष्कारके अनुसार किसी व्यक्तिको इंजेक्शन लगाकर उसकी सम्पूर्ण चेतना को एक "श्रिंज" में खींच लिया जाता है और फिर वह इंजेक्शन किसी स्वस्थ - युवा शरीरको लगा दिया जाता है । पहले व्यक्तिकी चेतना और दूसरे का शरीर मिलकर एक नया व्यक्ति बन जाता है ।[123]

उपन्यासमें वस्तुवादी एवं उपयोगितावादी दृष्टि भी नग्न होकर आयी है । युगके सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्तिकी आवाज " मैं " से कहती है : "मेरा सारा काम स्वचालित मशीनों के द्वारा होता है इसलिए मुझे मजदूरोंकी नहीं, बहुत थोडे-से विशेषज्ञोंकी आवश्यकता रह गयी है -- कुछ वैज्ञानिक, कुछ तकनीशियन, कुछ कृषि-विशेषज्ञ, कुछ युद्ध-विशेषज्ञ, कुछ अंक शास्त्री, कुछ मनोवैज्ञानिक और कुछ प्रचार - विशेषज्ञ । बाकी तमाम लोग

फालतू हैं ।"[124] वह इन फालतू लोगों और आवारा कुत्तों में कोई फर्क नही करता और उन्हें मरवानेकी बात करता है ।

इस प्रकार "नंगा शहर" में मानव जीवन की तमाम नग्नताएँ उनके विद्रूप रूपमें चित्रित हुई हैं ।

कोहरे (1977)

दीप्ति खंडेलवाल हिन्दीकी युवा उपन्यास लेखिका है । बदलते जीवन मूल्यों और प्रवर्तमान स्त्री-पुरूष सम्बन्धों पर एक नारी के दृष्टिकोणसे लिखा गया यह उपन्यास आधुनिक सोच और चिंतन को उजागर करता है ।

"कोहरा अंधकार नहीं होता ••••• कि कुछ दिखाई न पडे •••किन्तु कोहरे में चलते अगले कदम स्पष्ट नहीं होते •••• जैसे कोहरा एक अस्पष्टता, एक अनिश्चितता, एक उलझन-सा होता है ।"[125] हमारा आधुनिक जीवन भी इस कोहरेके मानिंद है, क्योंकि अगले क्षण क्या होगा, हमें नही मालूम । भयंकर अनिश्चितता के युगमें हम साँसे ले रहे हैं । बदलाव पहले भी था । परंतु इतना क्षिप्रगामी नहीं ।

स्मिता - सिमी एक आधुनिका है । उसका विवाह सुनील से होता है । स्मितासे पहले भी उसके सामने दर्जनों लड़कियाँ आयी थी, परंतु विवाह के लिए "प्रयोज" करने लायक उसेस्मिता ही जँची । वैसे स्मिता के जीवन में भी पहला पुरूष सुनील नहीं था । अपने शैशव के साथी प्रशांत के साथ उसे प्रणयका प्रथम अनुभव हुआ था, परंतु दोनों के पिताओंकी दुश्मनावट उनके परिणय में रूकावट बनती है ।

उसके बाद सुनीलका "ग्रीक गोड" जैसा शारीरिक सौष्ठव स्मिताको तन-मन से भींगा जाता है । सुनील भी उसके मोनालीज़ा सदृश मासूम अभिनव रूप पर लुब्ध हो गया था ।

पर सुनील-स्मिताका यह दाम्पत्य भी कुछ वर्षों से अधिक नहीं चलता । इस बीचमें आनेवाला मिकी "बण्टी" (आपका बण्टी) और "टोनी" (यह भी नहीं) की नियति का शिकार होता है । सुनीलका विस्फूर्जित अहं एवं एकाधिकारकी भावना आधुनिका स्मिता को दूरतक आहत करते हैं । सुनील स्वयं तो अनेक स्त्रियों के साथ नाचता है, परंतु वह स्मिताको किसी पुरुषकी बाँहोंमें डास-फ्लोर पर नही देख सकता ।

एक बार सिमी सुनीलको सरप्राइज़ देनेके लिए रेडियो के एक संगीत प्रोग्रेम में सम्मिलित होती है । सुनीलको यह बात बहुत अखर जाती है । उनके दाम्पत्य जीवन में पहली दरार तभी पड़ जाती है, जो क्रमश: बढ़ती ही जाती है ।

सिमी आधुनिक नारी है । अत: वह समर्पिता या स्पन्दनमयी नहीं हो सकती । वह सुनिलके व्यवहार से असंतुष्ट रहने लगती है । एक स्थान पर कहती है -- "मैं हदय के साथ बुद्धि भी रखती हूँ ...... यदि सर्वस्व दूँगी तो सर्वस्व चाहूँगी भी ·· ·अधिकार दूँगी तो अधिकार लूँगी भी .... चेतना के, जीवन के, स्वप्न और यथार्थ के सारे सन्दर्भ ही नहीं, अर्थ भी बदल चुके हैं ।"[126]

इसीके समानान्तर चलती है सिमी के पापा और मम्मीकी कहानी । पिताका सुदर्शन व्यक्तित्व और माँका सामान्य रूप-रंग, उन्हें समान धरातल पर कभी नहीं मिलने देता, अत: वे मनोरमाके प्रति आकर्षित होते हैं ।

सिमीकी माँ भी अपने शैशवमें बचपन के साथी माधव के प्रति आकर्षित थी। वह सिमीके पापाके नामका सिन्दूर लगाती है और उनको छोड़कर किसी दूसरे पुरुष के बारे में सोचना भी पाप समझती है, पर उसके साथ ही अगले जन्म के लिए यौवन की दहलीज़ पर प्रेमसे परिचय करानेवाले माधवको ही माँगती है। इस प्रकार सिमी देखती है कि उसके मम्मी-पापा की पीढ़ी के मूल्य भी ठीक वही नहीं है जो उसके पहले की पीढ़ीके थे। अपने भाई निशीथ और उसकी विदेशी पत्नी में सिमीको आगामी पीढ़ीके आसार भी मिलने लगते हैं, जहाँ केवल पुत्रीका प्रश्न आने पर ही वह अलग होनेकी बात करती है।

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यासमें लेखिकाने परिवर्तनशील जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में आधुनिक भारतीय नारीकी संवेदनाओंको प्रस्तुत किया है।

कोरजा (1977)

इसके पूर्व मेहरून्निसा परवेजके दो उपन्यास "आँखोंकी दहलीज" (19) और "उसका घर" (1972) प्रकाशित हो चुके हैं। "कोरजा" उनका तीसरा उपन्यास है जो पुरस्कृत भी हो चुका है। "कोरजा" हल्बी भाषाका शब्द हैं। खेतों के धान की फसल ढोए जाने पर हाथों में टोकरियाँ लिए छोटे छोटे बच्चे खाली खेतों में धानकी गिरी हुई बालियाँ ढूँढते हैं, बस्तर में इस क्रिया को "कोरजा" कहते हैं। उपन्यास के अंतमें मोना दीदी कहती है : "नसीमा, हमारी जिन्दगी में भी क्या ऐसी भूली-बिसरी स्मृतियाँ नहीं है, जिन्हें हम सारी उम्र "कोरजा" के रूपमे चुनते हैं।"[127]

"कोरजा" बस्तर क्षेत्रके जगदलपुर नगर में स्थित प्रतापगंज में रहनेवाली अरमान बीकी कहानी है जो नानीके नामसे जानी जाती है । रहमान खाँ ठेकेदार से उसकी शादी हुई । दो लड़के और दो लड़कियाँ हुई । लड़के बचपन में ही चल बसे । बड़ी लड़की फातमा ने जब यौवन की दहलीज पर पाँव रखा तो उसके बाप रहमान खांकी कुदृष्टि उस पर पड़ी । बापकी कुदृष्टि से उसे बचाने के लिए अरमान बीने उसके हाथ पीले कर दिये । पतिके अत्याचारोंसे उसकी मृत्यु हो गयी और उसकी लड़की नसीमा नानीके यहाँ आकर रहने लगी । दूसरी लड़की साजो, जिसका जन्म रहमान खाँकी मृत्यु से कुछ ही पहले हुआ था, विवाह के उपरान्त सौतेली सासके अत्याचारों से पीड़ित होकर पति सहित माँके पास आ गयी । उसका निठल्ला पति तीन बेटे रफीक, शफीक और मुन्नू को जन्म देकर मर गया और साजो तथा उसके बच्चोंका भार भी नानी पर आ गया । इसके उपरांत अरमानबीकी खास ननद के लड़के की लड़की राबिया भी अपनी सौतेली माँ के अत्याचारों से पीड़ित तथा ममेरेभाई जमशेदकी वासनाका शिकार होकर नानीके यहाँ गर्भ गिराकर रहने लगी । इस प्रकार बिना किसी मर्दकी सहायताके नसीमा, साजो, राबिया, रफीक, शफीक और मुन्नू से भरे परिवारको नानी जद्दो-जहद के साथ चलाती है । उसकी जिजीविषा व आक्रोश भरी मानव-प्रेम की कथा ही इस उपन्यासकी मुख्य कथा है । नसीमा उपन्यासके प्रारंभ में ही राबिया से कहती है -- "आज मैं सोचती हूँ आपा, तो बड़ा अज़ीब-सा लगता है । क्या उन दिनों बिखरे-छितरे लोग ही नानी के यहाँ पनाह ढूँढने आ जाते थे ? नानीके उस पुराने गरीब घरमें कितनी मजबूर जिन्दगियाँ साँस ले रही थी ।"[128]

इस मुख्य कथा के साथ तीन उपकथाएँ जुड़ी हुईं हैं -- कम्मो और अमित की प्रेमकथा, मोना दीदीके असफल प्रेम एवं साधनापूर्ण जीवनकी गाथा और शानो माँकी कथा । कम्मो जगदलपुर के एक स्कूल में अध्यापिका थी । शानो माँके मकान में रहते हुए अमित से उसका प्रेम हो जाता है, परंतु अमित नपुंसक होता है । कम्मो को जब यह मालूम होता है तो अमित आत्महत्या कर लेता है । उसकी आत्महत्या के बाद कम्मो भी आत्महत्या कर लेती है । मोना दीदीकी कथा उपन्यास के अंत तक चलती है । अपने असफल प्रेम के गमको भुलाने के लिए वह एक स्कूल चलाती है । नानी और साजोकी मृत्यु के बाद साजो के तीन लड़कों को वही पढ़ाती है । तीनोंकी ज़िन्दगीको सँवारनेका श्रेय मोना दीदीको जाता है । कम्मो शानोमाँ के मकान में रही इस लिहाज़ से वह कथा भी इस मूल कथामें जुड़ गयी है ।

"कोरजा"में नारी-जीवन के जिन आयामोंको उकेरा गया है उनमें तीन बातोंकी प्रधानता है -- पुरुष के अत्याचार, प्रेमकी असफलता और आर्थिक स्थितियों से उत्पन्न विवशताएँ ।

नानीके यहाँ पनाह पानेवाली सभी नारियाँ पुरुषके अत्याचार की शिकार हैं । फातमाको उसका पति बेतरह बेमुरव्वत पीटता था, अंतत: बिना दवा-दारू के पीलिया में तड़प-तड़प कर वह दम तोड देती है । रहमान खाँके ज़मानेका नानीका मुनीम जुम्मन खाँ नानीको कर्ज देकर मकान गिरवी रख लेता है । वह कभी भी कुर्की ला सकता है । उस कुर्की से बचने के लिए साजोको रोज जुम्मनखाँ के पास जाना पड़ता था । एक स्थान पर वह नानीके आगे जुम्मन खाँके अत्याचारों को बताती है -- "अम्मा, वह बूढ़ा मुझे नंगी करके सारी रात खड़ा रखता है । मेरे बदन को झिंझोडता है ।

मै विरोध न करूँ, इसलिए मुझे खंभे से बाँध देता है और हँसता हुआ मेरे शरीर पर हाथ फेरता और नौचता रहजा है । पूरे सौ पावरका बल्ब जलता रहता है और मैं नंगी खड़ी रहती हूँ और वह वहशी हँसता हुआ शराब पीकर घूमता रहता है ।"[129]

असफल नारी-प्रेमका चित्रण मेहरून्निसा के संपूर्ण कथा-साहित्य में मिलेगा । प्रस्तुत उपन्यासमें रब्बों, कम्मो और मोना दीदी तीनों ही असफल प्रेमिकाएँ हैं । तीनोंकी असफलता बड़ी गहराई के साथ हमें कचोटती है । आर्थिक विवशताएँ तो समूचे उपन्यासमें "कोरजा" की तरह बिखरी हुई मिलेंगी । "कोरजा" में आर्थिक प्रश्न अपनी पूरी जटिलता और बीभत्सता के साथ सामने आता है ।

वस्तुत: "कोरजा" "आँचल में दूध और आँखों में पानी" वाली नारीकी करूण-गाथाका आख्यान है, बल्कि आँसू भी खूब गये हैं और आर्थिक विवशताओंकी विभीषिका में "आँखों का पानी" भी जलकर बाष्प हो गया है ।

कुमारिकाएँ §1978§

"कुमारिकाएँ" कृष्णा अग्निहोत्रीका नारी-प्रबुद्धता § **Women Emancipation** §[130] पर लिखा गया उपन्यास है । इसमें हमारे पुरूषप्रधान समाजकी कुछ विकृतियों एवं विसंगतियों को संवेदना के साथ कुरेदा गया है ।

आज भी हमारे सभ्य समाज में लड़कों के जन्म पर खुशियाँ मनायी जाती हैं और लड़कियों के जन्म पर मातम । सामाजिक - प्रवंचनाकी विडम्बना तो यह है कि इसमें नारीको भी सम्मिलित किया जाता है । नारीके गौरव और मानका हनन नारीके हाथों ही करवाया जाता है ।

विडम्बना यह है कि लड़की से हर प्रकारकी अपेक्षा की जाती है, यथा - वह सुन्दर हो, सुशील हो, पढ़ी-लिखी हो और इन सबके बावजूद पतिका अनुसरण करनेवाली हो । इन स्थितियों का अनुसरण न करनेवाली कुमारिकाओं को पद-पद पद अनेक मुसीबतोका सामना करते हुए बारम्बार लज्जित होना पड़ता है । नारी कहीं अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखना चाहती है तो उसके शीलको क्षति पहुँचाने के लिए हमारा समाज अमादा रहता है । नारी हर हालत में भोग्या है -- विवाहित रूपमें भी और कुमारिका रूपमें भी ।

प्रस्तुत उपन्यासकी वन्दना, पूजा, गुड्डी, रोज आदि लड़कियाँ - कुमारिकाएँ एक होस्टल में जीवन बीताती है । समाजकी पारम्परिक मान्यताओंका वे विरोध करती हैं और अपनी स्वतंत्र "आइडेन्टिटी" बनाने में अपना हित देखती हैं ।

उपन्यासकी कथा दो वृत्तों में बँटी हुई है । एक है शुचिताकी कथा और दूसरी है नारी विद्रोहकी कथा । उपन्यासका प्रारंभ शुचिता के मनके विद्रोह के साथ होता है । शुचिताका पति श्रीधर स्वामीजी पर अनन्य आस्था रखता है । घरकी समृद्धि और पूजा ﴾उनकी बेटी﴿ के जन्म के लिए भी वह स्वामीजी की कृपा को ही कारण भूत मानता है । शुचिता स्वामीजीको ढोंगी और दुर्वृत्त समझती है । अन्तत: उसे स्वामीजी और उसके पति श्रीधर के षड्यंत्र का भोग होना पड़ता है । उसकी लाज सुरक्षित नही रह पाती । अनेक संकटों को झेलते हुए वह डो॰ विक्रान्त का सानिध्य प्राप्त करती है । पूजा बड़ी होती है, उधर डो॰ विक्रान्तकी लड़की गुड्डी भी । इस घरमे माँ-बेटी विचित्र प्रकारकी मनोवैज्ञानिक विसगतियोंको झेलती हैं ।

शकुन और बण्टी (आपका बण्टी) का स्मरण होजाता है । स्थानिक कॉलिजकी प्राध्यापिका वन्दना जब डॉ॰ विक्रान्त से प्रेम करने लगती है, तब शुचिता के लिए और भी समस्याएँ पैदा होती हैं ।

दूसरी कथा है कुमारिकाओंके विद्रोहकी । वन्दना, पूजा, गुड्डी, रोज, बसन्ती आदि कुमारिकाओं के जीवन-वृत्तोंको उसमें सहेजा गया है । रेस्क्यू होम और स्त्री-कल्याण हेतु निर्मित सामाजिक संस्थाओंकी निस्सारता को इसमें व्यंजित किया गया है । बसन्ती के ये शब्द हमारे तथाकथित सभ्य समाज को उसका यथार्थ चेहरा दिखाने के लिए सर्वथा सक्षम है : "देख माँ, जिस कुँआरेपन की रक्षा तू नहीं कर सकी, सौतेला बाप नहीं कर सका, सारा मोहल्ला, शहर, सरकार - कोई नहीं बचा सका, उसके लिए तू क्यों मातम करती है ।"

"रेस्क्यू होम" की निस्सारताको प्रकट करता है मालतीवाला किस्सा । विधवा मालतीको बच्चा होता है, क्योंकि "रेस्क्यू होम" स्त्री-सुरक्षाके नाम पर एक ढोंग है, बल्कि सभ्य-समाजके गाल पर एक करारा तमाचा है । वहाँ आश्रय पानेवाली नारियोंको ड्राइवर से लेकर मंत्रियों तक भेजा जाता है । संचालक तथा उनके मित्रों - अभिभावकोंके बिस्तर गर्म करनेका दायित्व भी इन्हीं आश्रिताओं पर है । संक्षेप में कृष्णाजी का यह उपन्यास हमारे सभ्य समाजकी बीभत्सताको, उसके भद्देपन और नंगेपन को उसके सही यथार्थ रूपमें अंकित करता है ।

चितकोबरा (1979)

"चितकोबरा" मृदुला गर्गका चेतना प्रवाह शैलीमें लिखा गया एक बहुचर्चित उपन्यास है । विडम्बना यह है कि उसकी चर्चा कथ्यकी ताज़गी यह शिल्पकी नवीनता के कारण न होकर तीन पृष्ठोंके (पृ. 108 से 110) सैक्स के खुले वर्णन के कारण हो रही है । वस्तुत: समूचे उपन्यासकी रचना-प्रक्रिया में यह तीन पृष्ठीय वर्णन पैबन्द-सा प्रतीत होता है ।" इससे यह प्रमाणित होता है कि मृदुलाजीकी आंतरिक मंशा भी कुछ ऐसी ही रही कि उपन्यास "बेस्ट सेलर" बन सके । उपन्यासकी थीम प्रेम और संभोग से जुड़ी होनेके कारण इससे लिए उन्हें अतिरिक्त अवकाश भी मिल गया ।"[131] डॉ. गोविन्द प्रसाद को प्रस्तुत उपन्यास में व्यक्तिवादी दृष्टि की सीमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं और वे उसमें निरूपित नायिका के मायावरी मनकी आलोचना भी करते हैं ।[132]

मृदुला गर्ग के उपन्यासोंकी नायिकाएँ उपलब्ध की निरर्थकता और अनुपलब्धकी आकांक्षाओंके तनावमें कसमसाती हुई दिखती हैं । तन और मनकी परि तृप्ति किसी एक-से नहीं होती । "उसके हिस्से की धूप" (19) की नायिका जितेन से तलाक लेकर मधुकर से विवाह करती है । पहले उसके मनकी परितृप्ति मधुकर से होती थी, परन्तु बादमें वह अनुभव करती है कि जितेन व्यापार में व्यस्त है, तो मधुकर सेमीनार और कॉलिजकी पढ़ाई-लिखाई के काम में व्यस्त है । अत: "चितकोबरा" की मनु एक बीचका रास्ता निकालती है । वह महेश से तलाक तो नहीं लेती है, पर सालके 365 दिनोंमें 5 दिन अपने प्रेमी रिचर्ड को मिलने की व्यवस्था कर

लेती है । शेष दिन उस अनुभव - गंधसे महकते रहते हैं । उसके तनकी आग महेश बुझाता है, तोमनकी सितार के तारोंको झंकृत करनेका काम रिचर्ड का है ।

वस्तुत: आजके इस पूँजीवादी औद्योगिक दौड़ते-भागते यंत्रयुग में पुरूष ≬उच्च वर्गके≬ के पास इतनी फुरसद कहाँ कि वह नारीके तन-मन के कोणोंकी रिक्तता को आपूर्त कर सकें, इसलिए उसने अपनी व्यवस्था और सुविधाके लिए नारीको इतना मुक्त कर दिया कि जब तलाक मांगती है दे देता है और जब लौटना चाहती है लौट आती है । "प्लेटोनिक-लव" के लिए जिस फुरसद और रोमान्सकी आवश्यकता है, वे इस मशीन-युगमें हवा हो गये हैं । विवाह के बाद मनुके महेश के प्रति "एक पक्षीय प्रेमके जब द्विपक्षीय प्रेम होनेकी नौबत आती है तब तक मनुको सहसा महेश के प्रति अपने प्रेम के चुक जानेका एहसास होने लगता है ।"[133]

वस्तुत: मृदुलाजी "दोनों और प्रेम पलता है की थ्यिरी को नकारती है । उनकी धारणा है : "कोई भी इन्सान एक ही समय में एक दूसरे को प्यार नहीं करते ••••••• जब एक करता है तो दूसरा नहीं और जब दूसरा करता है • •••• ।"[134]

ऐसा नहीं है कि मनुको शरीर-भोग से कोई धृणा है, बल्कि वह तो मानती है कि उसका दाय भी उसे मिलना ही चाहिए । शरीर की उपेक्षा वह कतई नहीं करती - "शरीर ही संगीत है, शरीर ही नृत्य । शरीर ही ईश्वर है, शरीर ही आराधना, शरीर ही चेतना है, शरीर ही विस्फोट । •••••••। पर शरीर लालची नहीं । अपना प्राप्य पालेने पर शांत हो जाता है ।"[135]

इसी वज़ह से सैक्स के स्तर पर मनु रिचर्ड और महेश में कोई फ़र्क महसूस नहीं करती । बल्कि सच तो यह है कि सैक्स की जैसी उदाम, विस्फूर्जित और आवेगमूलक अनुभूति उसे महेश के साथ होती है वैसी रिचर्ड के साथ नहीं होती ।[136]

उपन्यासका कथ्य वहाँ और भी उघड जाता है जहाँ मनु रिचर्ड के प्रति उत्कट प्रेम महसूस करते हुए भी सोचती है कि अगर उसका विवाह रिचर्ड से हुआ होता तो शायद वह महेश से प्रेम करती । इस दृष्टिसे प्रस्तुत उपन्यास "एक पति के नोट्स" का विलोम प्रतीत होता है । वहाँ पुरूषकी भटकन है, यहाँ स्त्रीकी । वहाँ पुरूषकी दृष्टि से स्त्रीको देखा गया है, यहाँ स्त्रीकी दृष्टि से पुरूषको ।

कुरू - कुरू स्वाहा (1980)

बुनियाद-फेम मनोहर श्याम जोशी का यह उपन्यास अनेक दृष्टियोंसे विवादास्पद है । बकौल जोशीजीके "कुरू-कुरू-स्वाहा" में कई-कई कथानक होते हुए भी कोई कथानक नहीं है, भाषा और शिल्प कई-कई तेवर होते हुए भी कोई तेवर नहीं है, आधुनिकता और परम्पराकी तमाम अनुगूँजें होते हुए भी कहीं कोई वादी-संवादी स्वर नहीं है । यह एक ऐसा उपन्यास है जो स्वयंको नकारता चला जाता है । यह मज़ाक है, या तमाम मज़ाकोंका मजाक, इसका निर्णय हर पाठक अपनी श्रद्धा और अपनी मन:स्थिति के अनुसार करेगा ।"[137]

उपन्यासका नायक तिमंजिला है । पहली मंजिल में बसा है "मनोहर" — श्रद्धालु, भावुक किशोर । दूसरी मंजिलमें "जोशीजी" नामक इण्टेलेक्चुअल और तीसरी में दुनियादार श्रद्धालु " मैं " जो इस कथा को

सुना रहा है । नायिका है "पहेली" - तारा झवेरी, एक अनेक विषय पारंगता, सिद्धानारी । बचपनमें उस पर बलात्कार हुआ था । उस बलात्कारी के प्रति भी उसके मनमें कोई दंश या द्वेष नहीं मिलता । वह उपन्यास के नायक, मि॰ डोमनवाला, खलीफ, मि॰ तलाटी, मि॰ तिरखा आदि पात्रों के लिए हीन ही पाठकों के लिए भी एक अनबुझ पहेली है जो उक्त तिमंजिला नायकको धराशायी करने पर तुली हुई है । नायक और नायिका के आसपास है मोहमयी मायानगरी बम्बईका बुद्धिजीवी और अपराधी जगत । साहित्य, कला, फिल्म, भारतीय संस्कृति, तथाकथित आधुनिकता, परम्परा आदि सभी पर इसमें एक व्यंग्यात्मक दृष्टिपात हुआ है ।

उपन्यास हजारीप्रसाद द्विवेदी और ऋत्विक घटकको समर्पित करते हुए लेखकने लिखा है -- "कि सागर थे आप, घडेमें किन्तु घड़े - जितना ही समाया ।" उपन्यास में वर्णित विषय-वैविध्यको देखते हुए कहना पड़ेगा कि अगर घड़ेकी यह बात है तो सागर का क्या आलम होगा ?

उपन्यासके उपशीर्षक भी बड़े विचित्र हैं -- "चलती का नाम चालू", "एनो मीनिंगसूं ।", "मिस्काटिंग कहाँ नहीं होती", "एक कौमी गाली-पूरी कौम के नाम", "कृपया अपना नरक खुद तलाशें, भावनाओंका बाज़ार-भाव", "और फ्रायड को नींद आ गयी", "बायलौजीका होमियोपेथिक डौज़", "कुछ कला-वला हो जाती थी", "तन्त्रका पेटिकोट में घुसो नका", आदि आदि । इन शीर्षकों से ही उपन्यास की विषय-वैविध्यता एवं शैलीका पता चल जाता है ।

इस प्रकार ढेर सारे पात्र, ढेर सारी घटनाएँ -- वास्तविक, काल्पनिक, व्यंग्यात्मक, हास्यास्पद, श्लील-अश्लील, सुंदर-फूहड़, अंग्रेजी, हिन्दी, फ्रेन्च, जर्मन, संस्कृत आदि भाषाओं के ढेर सारे उद्धरण - संदर्भ इन सबने मिलकर कृतिको एक विवादास्पद रूप प्रदान कर दिया हैं । अनेक विषयोंमें रूचि रखनेवाले तथा आधुनिक साहित्यिक परम्पराओं एवं प्रवाहों से परिचित पाठकोंको यह कृति आनंद दे सकती है । सामान्य पाठकों के लिए उसके दो पृष्ठ पढ़ जाना भी दुश्वार होगा ।

कोई तो §1980§

विष्णु प्रभाकर हिन्दी के ख्याति प्राप्त कथा मनीषी हैं । इसमें मध्यवर्गीय नैतिकताका पर्दाफास किया गया है । इस बृहत्तर समाजका 20 प्रतिशत मध्यवर्ग पूरे समाजकी नैतिकताका ठेकेदार बना हुआ है । प्रस्तुत उपन्यासमें इस मध्यवर्गीय नैतिकता के नीचे फैली सड़ाँध को बहुत बेबाकी से उद्घाटित किया गया है और पतन के कगार पर खड़े इस समाजकी रक्षा "कोई तो" करेगा ऐसी आशा व्यक्त की गई है ।

वर्तिका अपने पिताके सहकर्मी शेख जान मोहम्मद के लड़के असद के साथ परीक्षा की फीस जमा करने के लिए देहरादून से ग्वालियर के लिए रवाना होती है । गाँव तो गाँव, महानगरों में भी मध्यवर्गीय लोगोकी मानसिकता जातिवाद और सांप्रदायिकता से मुक्त नहीं है । रास्ते में गुंडे हिन्दू लड़की को मुसलमान के साथ देखकर उनके पीछे पड़ जाते हैं और अन्तत: वर्तिकाको मातृ-मन्दिर भिजवा दिया जाता है । माता-पिता, सगे-सम्बन्धी, परिचित सभी अफवाहों के शिकार होकर वर्तिकाको कलंकित मानते हैं । माता-पिता उसे इस बातको छिपाने की सलाह देते हैं, परन्तु वर्तिका की

अंतरात्माको यह स्वीकार नहीं । उसका मन इस बातका विद्रोह करता है जो अपराध उसने किया नहीं है, उसके लिए वह शर्मिन्दा क्यों हो ।

अत: झूठी अफवाह से बचनेके लिए वर्तिका दिल्ली रहकर अपनी पढ़ाई करती है । एक दिन वह दिल्ली के किसी कॉलेजमें हिन्दीकी प्राध्यापिका बन जाती है और एक होस्टेल में अलग रहना ही पसन्द करती है । इसी उपक्रम में अनेक वर्गके लोग उससे जुड़ते हैं । डॉ॰ रूद्र, तुषार, राजेन्द्र, डॉ॰ रमा प्रसन्न आदि उसके प्यारकी परिधिमें आते हैं, परन्तु कोई भी उसे पूरे मनसे स्वीकार नहीं कर सकता और वर्तिका भी इस व्यामोह में नहीं फँसती ।

तुषार की माँ उसे अपनानेको तैयार नहीं, यद्यपि वह स्वयं अपने जेठके साथ फँसी हुई थी और इसीलिए उसके पतिने आत्महत्या कर ली थी । डॉ॰ रमा प्रसन्न कान्फ्रेन्समें जाते हुए उसके साथ बुके में सीट रीजर्व कराते हैं और रात भर उसे तंग करते हैं । परंतु ये सभी अपने पुराने संस्कारो के कारण वर्तिका की कलंक-कथा {झूठी-मनगढंत} से अपनेको (मुक्त नहीं कर पाते ।

अन्तत: दक्षिणी नारायण उसे पूरे मनसे निच्छलता के साथ स्वीकारता है । नारायण अनाथ रहा है । और किसी की नाजायज सन्तान है । अत: अपनी निपति से जुड़ा हुआ यह दर्द, यह अभिशाप उन दोनोंको एक-दूसरे के निकट लाता है । वह नारायण को अपने बराबर वाले कमरे में बुला लेती है और दोनों के कमरों के बीचका दरवाजा खोल दिया जाता है । बिना किसी रस्मके यह नये तरहका विवाह सम्पन्न हो जाता है ।

मध्यवर्ग के इन्हीं नैतिक मूल्यों के छद्मका शिकार असद भी होता है । असद एक हिन्दू लड़की वंदना से प्रेम करता है । उससे विवाह करने के लिए वह हिन्दू तक हो जाता है । परंतु लोगोंके षड्यंत्रके कारण वंदना ताराशंकर सितार-वादक के साथ अमरिका चली जाती है । असद आत्महत्या कर लेता है ।

इन घटनाओंके साथ-साथ डकैती, बलात्कार, लूंट-फाट, छात्रोंके दिशाहीन विद्रोह - विस्फोट आदिका चित्रण भी हुआ है । चन्दा और कुन्तल गुण्डोंके बलात्कारका भोग बनती है । कोई कुछ नहीं कर सकता । उपन्यास के अंतमें यह आशा व्यक्त की गई है कि इस सामाजिक अराजकता और विश्रृंखलता को "कोई तो" दूर करेगा ही ।

मिश्रित परिवेशवाले उपन्यास

आलोच्यकाल में कुछ उपन्यास ऐसे भी आते हैं जिनका भौगोलिक परिवेश मिश्रित है । औद्योगीकरण एवं शिक्षाके प्रचार-प्रसार के कारण अब लोगोंका आवागमन बढ़ गया है । निप्प प्रति लाखों लोग रोजगारकी तलाश, शिक्षा, नौकरी आदिके कारण शहर की और भाग रहे हैं । गाँव के लोगोंको शहरोंका बड़ा आकर्षण है । शहरोंकी सुविधाएँ, चकाचौंध और उन्मुक्तता उन्हें आकर्षित कर रही हैं । इसमें परिवार-विघटन के साथ कई पुराने मूल्य भी टूट रहे हैं । शिवप्रसाद सिंहके उपन्यास "अलग-अलग वैतरणी" में गाँवों के इस टूटनेकी कसकको जग्गत मिसिर के शब्दों में अनुभव कर सकते है -- "आप जा रहे हैं विपिनबाबू, जाईये । कोई इसके लिए आपको दोष भी नहीं देगा । सभी जाते हैं । हमारे गाँवों से आजकल इक तरफ

रास्ता खुला है । निर्यात । सिर्फ निर्यात । जो भी अच्छा है, कामका है, वह यहाँ से चला जाता है । अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है । अच्छे मोटे-ताजे जानवर, गाय, बैल, भेंड़-बकरें जाते हैं । हट्ठे-कट्टे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देहमें बल है, खींच लिये जाते हैं पल्टन में, पुलिसमें, मलेटरीमें, मिलमें । फिर वैसे लोग जिनके पास अकल है, पढ़े-लिखे हैं, यहाँ कैसे रह जायेंगे ? वे जायेंगे ही । जाना ही होगा ।"[138]

अत: ऐसे उपन्यास जहाँ ग्रामीण पात्र शहरों में संक्रमण करते हैं, हमें दूहरा परिवेश प्राप्त होता है - ग्रामीण एवं नगरीय । इसी तरह कईबार शहर के लोग भी गाँवों में आते हैं -- अपने काम-काज के सिल सिले में, घूमते - फिरने या जो मूलत: गाँव के हैं पर अब शहरों में बस गये हैं -- अपने सगे - सम्बन्धियों को मिलने या छुटियाँ बिताने आते हैं । इन स्थितियों में भी मिला-झुला परिवेश प्राप्त होता है ।

हिमांशु श्रीवास्तवका उपन्यास "नदी फिर बह चली" (1961) का जगलाल ट्रक-ड्राइवर है । वह पटना में रहता है । उपन्यासका प्रारंभ ही परबतिया की डोलीके उठने के साथ होता है । परबतिया के शैशव कालसे लेकर उसके विवाह तककी घटनाओंको स्मृति-रूपमें उद्घाटित किया है । ठीक यही वह बिन्दु है, जहाँ से उपन्यास में पटना के नगरीय परिवेश का प्रारंभ होता है । उपन्यास के अन्त तक आते-आते परबतिया पुन: गाँव लौट आती है, क्योंकि उसका पति जगलाल अपने एक साथी के खून के अपराधमें जेल चला जाता है । पटना में जिन स्त्रियों के बीच परबतिया रहती है -- जनकियाकी माँ, चमेलया आदि -- वे बड़ी चालू औरतें हैं ।

यहाँ शहर के निम्न मध्यवर्गीय लोगोंके जीवनमें व्याप्त भ्रष्टाचार एवं नैतिक मूल्यों के अध: पतनका बड़ाही स्पष्ट चित्र लेखकने अंकित किया है । जगलाल ट्रक के क्लीनर नत्थू के साथ सस्ती वेश्याओंकी कोठरियों में भी जाता है । इन वेश्याओं के परिवेश, खान-पान, सहन-सहन, बोल-चाल आदि का बड़ा सटीक व यथार्थ चित्रण लेखकने किया है ।

नागार्जुन के उपन्यास "उग्रतारा" (1963) की नायिका उग्रतारा या उगनी मढ़िया-सुन्दरपुरकी एक युवा विधवा है । सुन्दर-मढ़ियापुरसे कोसें दूर एक कसबाई शहर के छोटे-से क्वार्टर में कामेश्वर तथा उगनी का नया संसार शुरू होता है । इस उपन्यासमें ग्रामीण एवं कस्बाई वातावरण का चित्रण मिलता है ।

गुलशेर खान शानीका उपन्यास "कालाजल" (1965) रूसी भाषामें भी अनूदित होकर आदृत हो चुका है । कमलेश्वर ने हिन्दीके जिन सात-आठ स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासोंका ज़िक्र किया है, उनमें एक "कालाजल" भी है ।[139] इसक हम मध्यवर्गीय मुस्लिम समाजका एक "प्रामाणिक दस्तावेज" भी कह सकते हैं, क्योंकि समूचा मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज अपनी सारी अच्छाइयों-बुराइयों, रस्मो-रिवाज, मान्यताओं, गरीबी, विडम्बना, विसंगतियों, विद्रूपताओं के साथ यहाँ मूर्तिमंत हुआ है ।[140] यों तो उसका मुख्य परिवेश नगरीय है, किन्तु समूचा उपन्यास स्मृतियों एवं पूर्व दीप्ति के सहारे चलता है, अत: उपन्यासके कुछ पात्रोंके सम्बन्ध में ग्रामीण एवं कस्बाई परिवेशका भी समावेश हो गया है ।

डॉ॰ राही मासूम रज़ा कृत "आधा गाँव" का मूल परिवेश तो गांमीण है, किन्तु अलीगढ़ गाजीपुर, लखनऊ आदिका भी थोड़ा-बहुत

समावेश उसमें हो गया है । उपन्यासके कुछ पात्र शहरोंसे ताल्लुकात रखते हैं, अत: उसमे नगरीय-परिवेश एवं प्रभावके कुछ संकेत मिलते हैं ।

श्रीलाल शुक्ल कृत "राग दरबारी" (1968) ग्रामीण एवं कस्बाई वातावरणको लेकर लिखा गया है, परंतु उपन्यासका एक मुख्य पात्र रंगनाथ शहर से आया हुआ है, अत: उससे सम्बन्धित कथा-वृत में नगरीय परिवेश का चित्रण मिलता है । शिवपालगंजके सर्वेसर्वा वैद्यजी राजनीतिक प्रभुत्ववाले व्यक्ति हैं, अत: नगरकी राजनीतिक, शैक्षणिक, सामाजिक संस्थाओं से उनके सम्बन्ध हैं, इस नाते उनका शहर आना-जाना अक्सर होता है । उपन्यास के दूसरे बहुत से पात्र भी नगरों से किसी-न-किसी प्रकार से जुड़े हुए हैं, अत: ग्रामीण परिवेश होते हुए भी नगरीय-जीवन के बहुत से मूल्य यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं । इसमें लेखकने शिक्षा, राजनीति, साहित्य; सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवनकी अनेक विसंगतियों पर बड़े करारे व्यंग्य किए हैं । डॉ॰ विवेकी रायके शब्दों में "राग दरबारी" व्यंग्यात्मक उपन्यासोंका प्रतिमान है ।"[14] रंगनाथ बुद्धिजीवी वर्गका प्रतिनिधि है । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देशमें बुद्धिजीवियोंकी जो कायरतापूर्ण तटस्थता रही है, उसका कुछ संकेत हमें रंगनाथ के चरित्रमें मिल जाता है ।

नागार्जुन कृत "इमरतिया" (1968) में धर्मके नाम पर जमनियाके मठमें चलनेवाली अनैतिक असामाजिक, अधार्मिक एवं अवैध प्रवृत्तियोंका पर्दाफाश किया गया है । अत: मुख्य परिवेश तो ग्रामीण है, किन्तु स्वामी अभयानन्द नामक शिक्षित एवं समाजसेवी साधुको महन्ती दरबारकी जय न बोलने के कारण बुरी तरहसे पिटा जाता है, इसी सिलसिलेमें बाबा, मस्तराम तथा भाई इमरतीदास आदिको पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है । भाई इमरतीदास तो

जमानत पर छूट जाती है, पर बाबा और मस्तरामको जेल में रखा जाता है। बाबा तथा उनके गुर्गोंके सम्बन्ध पुलिस तथा राज्यके उच्च अधिकारियों तक है, इस सन्दर्भ में नगरीय परिवेश का कुछ समावेश प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है।

भगवतीचरण वर्मा कृत "सबहिं नचावत राम गोसाई" (1970) भी मुख्यत: नगरीय परिवेश से जुड़ा हुआ है परन्तु जबरसिंह के पूर्वजोंवाला कथावृत्त ग्रामीण परिवेशका है। प्रस्तुत उपन्यास में भी हमारे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, मूल्योंकी अनेक विसंगतियों एवं विद्रूपताओंको उकेरा गया है। भारतमें हुए औद्योगिक विकास एवं पूंजीवादके प्रसार तथा राजनीति एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठानोंकी सांठ-गांठ को इसमें बखूबी रेखांकित किया गया है।

गुलशेरखान शानी कृत "सांप और सीढ़ी" (1971) उनके 1960 में प्रकासित "कस्तूरी" का संवर्द्धित एवं पुन: संस्कारित रूप है। इसकी कथा तो मूलत: कस्तूरी गाँवकी है, परंतु औद्योगीकरण के कारण वह शनै: शनै: एक नगरका रूप धारण कर रहा है। इस उपन्यासका महत्व उसके इस विशिष्ट संदर्भ के कारण भी है। लेखकने यहाँ औद्योगिकताकी चपेट में आये जन-जीवन और उसके नैतिक-सांस्कृतिक संकटको गहन मानवीय संवेदना के साथ चित्रित किया है। दण्डकारण्य योजना तथा सोनपुरकी खदानों ने जहाँ नई रोशनी, सुख-सुविधाएँ, सिनेमा-होटल, नये सौन्दर्य-प्रसाधन आदि दिये, वहाँ उसके जीवन मूल्योंको तोड़ा-मरोडा भी है। यह औद्योगीकरण जहाँ मनुष्य को ऊपर चढ़ानेवाली सीढ़ी है, वहाँ वह सांप भी है, जिसका ग्रास होकर मनुष्य पतन की गर्तमें उतर पड़ता है। "एक दिन सोनपुरकी पहाडियों

की और बड़ा जोर का धमाका हुआ था । शायद कोई चट्टान उड़ायी गयी थी और शायद उसके रेजे और टुकड़े आकाश में काफी दूर तक उछले थे ।[142] इस विस्फोट के साथ ही मानो सोनपुर के अँचल में भी खामोश धमाका हुआ था । आहिस्ता से एक संक्रमण वहाँ के जीवन में रेंग आया था, जिसकी कल्पना "रंगभूमि" में प्रेमचन्दजीने बहुत पहले कर ली थी ।

रामकुमार भ्रमर कृत "कांचघर" §1971§ तमाशा §मराठी लोक-नाट्यका एक रूप§ - संचकी औरतों पर लिखा गया उपन्यास है । अतः उसका परिवेश ग्रामीण एवं कस्बाई है, परंतु यथावश्यक उसमें नगरीय परिवेश के कुछ आयाम भी अंकित हुए हैं ।

डॉ. राही मासूम रज़ा कृत "दिल एक सादा कागज" §1973§ स्वातंत्र्योत्तर विषाक्त स्थितियों, कटुता और विसंगतियों से उत्पन्न एक कड़ुआ व्यंग्य है । उपन्यास ऊपर-ऊपर से गुद गुदाता है, परंतु भीतर-ही-भीतर एक कसैलापन फैलता जाता है । यह जैदीविला, ढाका और बम्बईकी कहानी है । कथाके प्रारंभ में ढाका हिन्दुस्तान में था, फिर वह पूर्वी पाकिस्तान में चला गया और कहानी के अंत तक आते-आते वह बंगला देश में आ गया । इसके साथ ही यह रफ्फनके भटकन की कहानी भी है । अतः उसमें आंशिक रूपसे ग्रामीण एवं कस्बाई परिवेश का समावेश हो गया है ।

इसमें बम्बईकी फिल्मी ज़िन्दगी उसकी भयावह विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ, नारायणगंजकी भौंडी हरकतें, प्रदर्शन प्रियता, नौकरशाही चोंचले, नकली ज़िन्दगी, स्कूल-कॉलिजकी पॉलिटिक्स, लौंडेबाजी, कवि-सम्मेलन और मुशायरे जैसे अनेक प्रसंगों में हमारे सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवनके दोहरेपन पर व्यंग्य किए गए हैं ।

मन्नू भण्डारी कृत "महा भोज" (1979) के केन्द्र में तो "सरोहा" है, किन्तु उससे संलग्न दा साहब, सुकुल बाबू, लखनसिंह, डी॰आई॰जी॰ सिन्हा साहब, एस॰पी॰ सक्सेना साहब, रिसर्च प्रोजेक्ट वाले महेश बाबू, मशालके संपादक दत्ता साहब, आदि नगरीय-परिवेश से जुड़े हुए हैं। "महाभोज" में निरूपित राजनीतिक विडम्बनाओंके सम्बन्ध में डॉ॰ बंसीधर शर्मा के यह विचार ध्यानव्य है -- "उसके (जनताके) इस मोहभंगकी सर्वाधिक प्रखर और धारदार अभिव्यक्ति हुई, हिन्दीके प्रसिद्ध कथाशिल्पी श्री फणीश्वरनाथ रेणुके "मैला आंचल" (1954) में। इसके बाद तो एक सिलसिला शुरू हो गया ऐसे उपन्यासोंका और अनेक हिन्दी कथाकारों ने नारों और आश्वासनों में बहती हुई राजनीति और उसके प्रभावों में बुरी तरह ग्रसित भारतीय जनताकी विवशताओंको वाणी प्रदान की। इस दृष्टिसे कई उपन्यासोंके नाम गिनाये जा सकते हैं, मन्नू भंडारी का "महाभोज" भी इसी श्रृंखला में आगेकी कड़ी है, आगेकी इसलिए कि इस उपन्यास में चित्रित राजनीतिक घटियापन हमारे वर्तमान की वास्तविकता है, दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह उपन्यास उस राजनीति को लेकर चला है जिसके वृत्तमें हम घिरे हैं, जो हमारे आसपास है, जिसमें हम सांसे ले रहे हैं।"[143] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि स्वाधीनताके उपरान्त हमारे देशकी राजनीतिमें एक नया गर्हित परिमाण जुड़ा - गुण्डा इज्म और प्रस्तुत उपन्यासमें इस गुण्डाइज्म के परिणामों को सांकेतिक ढंगसे रेखांकित किया गया है।

अन्य नगरीय परिवेश के उपन्यास :

स्थानाभाव एवं शोध-प्रबन्धकी मर्यादा के कारण यहाँ कुछ नगरीय परिवेशके उपन्यासोंकी संक्षिप्त-चर्चा भर कर रहे हैं ।

राजकमल चौधरी कृत "शहर था, शहर नहीं था" (1966) आधुनिकता और नगर बोधको उजागर करनेवाला उपन्यास है । उसमें लेखकने 19 कविताएँ भी जोड़ी हैं । सामूहिक यौनाचार, बोरियत, नगरीय-जीवनका खोखलापन, मानसिक-यौनिक तनाव, संत्रास एवं अजनबीपन आदिका चित्रण इस उपन्यास में हुआ है । श्रीकान्त वर्माकृत "दूसरी बार" (1966) में सेक्स जनित कुण्ठाको चित्रित किया है । पहलीबार सम्भोग में वह (नायक) जल्दी स्खलित हो जाता है और हीनताका बोध उसे घेर लेता है । वह साहस बटोरता है ताकि दूसरी बार विजय पा सके । परंतु " मैं " (नायक) में हीनताकी गाँठ इतनी गहरी और जटिल है कि वह बार-बार तुनकने और अपमानित महसूस करने लगता है । गिरिराज किशोरकृत "यात्राएँ" (1971) न धार्मिक हैं, न भौगोलिक । एक नव-विवाहित दम्पति मसूरी जाते हैं, किन्तु इसीमें वे दोनों परस्पर के मर्म-स्थलों की यात्रा भी करते हैं । इसमें भी कोई आर्थिक व सामाजिक समस्या नहीं है । विवाह के बाद के प्रारंभिक दिनों में पति-पत्नीका एक-दूसरे को शारीरिक रूपसे न पा सकने की झुंझलाहट को इसमें चित्रित किया गया है ।

"लोग" (1966) में गिरिराज किशोर ने एक अछूते थीमको लिया है। इसमें राय साहब जैसे कुछ ऐसे लोगोंका चित्रण है जो स्वाधीनता के समय

असुरक्षाका अनुभव करते हैं । वे अपने छूटते हुए वर्तमान और अदृश्य आतंकित संशय युक्त भविष्य के बीच अधरमें लटक रहे हैं । अंग्रेजोंका जाना सामान्य लोगोंका उभरकर आना उन्हें भीतर ही भीतर काट रहा है ।

"अंतराल" ﴾1972﴿ मोहन राकेशका अंतिम उपन्यास है । "सम्बन्धोंको दिए गए सब नाम केवल सुविधा के लिए हैं ...... वास्तविक सम्बन्ध इतने सूक्ष्म होते हैं और व्यक्ति-व्यक्ति के साथ इतने अलग, कि उन्हें नाम दिये ही नहीं जा सकते ।"[144] "अन्तराल" इन्हीं अनाम सम्बन्धोंकी कहानी है । प्रमोद सिनहा द्वारा लिखित उपन्यास "उसका शहर" ﴾1970﴿ नगर-बोधसे जुड़ा हुआ उपन्यास है । लूपिका, दशानन, श्री, आमूल, नीरा, एग्नी आदि पात्र जिस वास्तवको झेलते हैं वह बाहरी कम, भीतरी ज्यादा है । इसमें बीतते ताने की संवेदना और कसक है । आमूलको सारी शिकायत अपने भीतरी खोखलेपनसे है । प्रोफेसर दशानन रीतेपन के बोध से घिरा हुआ है, जिसे भरने के लिए वह छात्राओंको खाने पर बुलाता है ।

ओमप्रकाश दीपक के उपन्यास "कुछ ज़िन्दगियाँ बेमतलब" ﴾1966﴿ में लेखकने यह स्थापित करनेका प्रयत्न किया है कि " न जाने कितनी ज़िन्दगियाँ बेमतलब उगती हैं और फसली कीड़ोंकी तरह बुझ भी जाती हैं । ज़िन्दगी मतलब हासिल करनेकी गरजसे इधर-उधर हाथ-पाँव पटकती है, पर झूठे आधारोंके टूट जाने पर वह नीचे और नीचे गिरती जाती है । इस उपन्यास में धर्मदास की ऐसी ही ज़िन्दगी है । यह ज़िन्दगी वातानुकूलित भवनों और दफ्तरोंकी नहीं चौराहे पर खड़े सर्व हारा की भीड की कहानी है ।"[145]

रजनी पनीकर के उपन्यास "महानगरकी मीता" (1969) में एक मनोवैज्ञानिक समस्याको लिया गया है । उसके नायकको बचपनमें किसीका प्यार नहीं मिला । अत: वह सदैव अपने आपको असुरक्षित महसूस करता है । ऐसा बच्चा बड़ा होकर स्वार्थी एवं स्वकेन्द्री बनता है । उपन्यासकी नायिका स्वयं नौकरी करके उसे पढ़ाती है, परंतु बादमें कुछ बन जाने पर वह उसे ही ठुकराकर चला जाता है । मीता महानगर के एकान्त में फिर खो जाती है ।

नरेश मेहता कृत "यह पथ बन्धु था" (1966) में लेखक ने आधुनिक जीवन का यह सत्य सामने रखा है कि अपनी वैयक्तिक सीमाओं में एक छोटी-सी प्रामाणिकताका निर्वाहकर पाना कितना दुष्कर होता जा रहा है । डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में, "अपने प्रति सच्चर और सहज होना जीवन संघर्ष के लिए अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि एक प्रकारकी अयोग्यता है । .... हल्के से हल्के और छोटे-से-छोटे स्तर पर भी किन्हीं मूल्यों के प्रति सजग और संवेदनशील होकर सुखी हो सकना प्राय: असंभव है ।"[146] प्रस्तुत उपन्यासका श्रीधर इसका एक ज्वलंत उदाहरण है ।

प्रभाकर माचवेकृत "किस लिए" (1970) में महानगर दिल्लीके एक चालनुमा घरकी कल्पनाकी गयी है जिसमें विविध व्यवसायवाले मध्यवर्गीय लोग रहते हैं । लेखक नेइस समाजकी कथा "अ-धर्म", "अ-नर्थ", और "अ-काम" इन तीन खण्डों में विभाजित करके कही है । धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरूषार्थों के आगे "अ" उपसर्ग लगाकर लेखक यह ध्वनित करते हैं कि ये तीनों वर्तमान सन्दर्भ में अपना सही अर्थ खो चुके हैं ।

बदी उज़्ज़मॉंके उपन्यास "एक चूहेकी मौत" ॥1971॥ में सरकारी तंत्र एवं दफ्तरी परिवेशकी दम घोटू मोनोटोनीका प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है । "चूहा" फाइल का प्रतीक है । फाईल से सम्बन्धित कार्य करना "चूहा मारना है" और उसका कर्ता दफ्तरका क्लर्क-बाबू चूहेमार है । आधुनिक शिक्षित व्यक्तिकी सबसे बड़ी ट्रेजडी यही है कि उसे अपनी आजीविका के लिए वह प्रतिभा नाशी काम करना पड़ता है जो उसकी आत्माको स्वीकार्य नही होता । व्यवस्था के साँचे में ढलकर सभी एक-से हो जाते हैं -- बिना चेहरे के, व्यक्तित्वहीन । अत: लेखकने उपन्यासमें पात्रों को "ग" "त" "प" आदि कहकर नाम विहीन अवस्थामें रखा है ।

अमृतलाल नागर के उपन्यास "अमृत और विष" ॥1966॥ में उपन्यास के भीतर उपन्यासकी टेकनीकको अंगीकृत किया गया है । इसमें दो कथाएँ समानान्तर चलती हैं -- एक उपन्यासकार अरविंद शंकरकी आत्मकथनात्मक कथा और दूसरी उनके उस उपन्यासकी कथा जिसके लिए एक प्रकाशक से अग्रिम राशिके रूपमें वे दो हजार रूपये ले चुके हैं । प्रथम में उपन्यासकार अरविंदशंकर की संघर्षपूर्ण कथा है । आर्थिक विपन्नता एवं पारिवारिक समस्याएँ उनके साहस एवं धैर्यकी कमर तोड़ देती हैं । दूसरे कथा-खण्ड में आजके युवा-वर्ग के संघर्षमय वातावरण का चित्रण है । डॉ॰ कुंवरपालसिंह के शब्दों में, "पैसे के बल पर खरीदी हुई पक्षधरता के साथ पूँजीपति वर्गसे टकराता हुआ अल्हड़, अकेला, आवेश पूरित और सत्याकाँक्षी नौजवानवर्ग इस दूसरी कथावस्तुका जीवन-प्राण है, जिसने उपन्यासको सार्थकता प्रदान की है । इस संघर्षके बहादुर लड़ाकू हैं रमेश, लच्छू, हरि, दैलूं, जयकिशोर और शामराव गोड़ बोले ।"[147]

काशीनाथ सिंह के उपन्यास "अपना मोर्चा" §1972§ में भी युवा-समस्या के सन्दर्भ में छात्र-आँदोलनों के परिवेशको लिगा गया है किन्तु यहाँ इस वर्ग के दूसरे पक्षको भी लेखकने छोड़ा नहीं है । "अपना मोर्चा" में जहाँ एक तरफ भीतर ही भीतर सुलगनेवाला विश्व विद्यालय है, वहाँ दूसरी तरफ़ एक ठण्डी फैशन परस्त निश्क्रियता भी है जिसका तीखा एकसास कराते हुए डॉ॰ शेरजंग गर्गने लिखा है : "प्रगतिशील लेखन में जहाँ व्यंग्य आया है वहाँ युवा-वर्गकी निश्क्रियता, बाप दादों के माल पर पलनेकी मनोवृत्ति और अपने सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से बेखबर होने पर भी कम कचोट भरे आक्रमण नहीं किए गए हैं । यही हाल उन युवतियोंका भी हुआ है जो महाविद्यालय और विश्व विद्यालयोंकी शिक्षा मात्र इसलिए ग्रहण करती हैं कि डिग्रियाँ प्राप्त करके उन्हें अपना घर बसाना होता है और जिनकी रूचि साहित्य में नही, हल्की-फुल्की फिल्मों में और फिल्मी नायक-नायिकाओं में होती है ।"[148]

शमशेरसिंह नरूला द्वारा प्रणीत उपन्यास "एक पंछी की तेज़धार" §1965§ गांधीजी की हत्या के समयकी परिस्थितियों पर आधारित एक राजनीतिक व्यंग्यात्मक उपन्यास है । इसमें शिवशंकर कोहली किस प्रकार ठगीके पैसे से शायर, कहानीकार और अन्तमें नेता बनकर रिफ्यूजी एसोसिएशन का प्रमुख बन जाता है, किस प्रकार काम-धन्धे और घरबारवाले लोग रातोंरात बेकार और बेघर होकर तीस हजारी शरणार्थी केम्पमें ठूँस दिए जाते है, किस प्रकार पुराने कांग्रेसी सालिगराम और उसकी पत्नी भगवतीदेवी अनाथों के नाम पर फंड इकट्ठा करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं, किस प्रकार हिन्दू महासभाके लोग शरणार्थियोंको गांधीके विरूद्ध

भड़काते हैं और कैसे उनके खिलाफ एक विषाक्त वातावरण तैयार किया जाता है, किस प्रकार यहाँ के कुछ मुसलमानों के घर और संपत्ति हथिया लिए जाते हैं, किस प्रकार प्रारंभ का प्रामाणिक व निष्ठावान चाननमल "देश भगत" का पत्रकार सी•एम• चोपड़ा बनकर एक मक्कार, फरेबी और दोगला आदमी हो जाता है ऐसी तो अनेक घटनाएँ इसमें वर्णित हैं ।

"सीमाएँ टूटती है" §1973§ में श्रीलाल शुक्लने महानगर दिल्लीके परिवेशको यथार्थतः प्रस्तुत किया है । उसमें लेखक परिवर्तनमान जीवन-मूल्यों को उकेरने में सफल हुआ है । महानगर के संदर्भ में वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विसंगतियोंको लक्ष्य करते हुए लेखकने अनेक प्रसंगों पर व्यंग्य किया है ।

जैनेन्द्रकुमार कृत "मुक्ति बोध" §1974§ कामराज - योजना की "थीम" पर आधारित एक उपन्यास है, किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य तो सहायबाबू के भीतर चलनेवाला वह द्वन्द्व और अन्ततः वह जैनेन्द्रीय चिंतन ही है । यह उपन्यास नीलिमा के ज्वलंत व्यक्तित्व के कारण स्मरणीय रहेगा । वैयक्तिक स्वार्थ और नैतिक-मूल्यों के अधः पतनको भी यहाँ संकेतित किया गया है ।

गोविन्द मिश्र द्वारा प्रणीत उपन्यास "लालपीली जमीन" §1976§ युवापीढ़ीकी दिशाहीनता और मूल्यहीनता को रेखांकित करता है । किशोर, युवक, उनके अभिभावक, सारे सम्बन्ध और मूल्य ये सब भ्रष्ट हो गए हैं । स्त्रियों और लड़कियों की इज्ज़त खतरे में है । पुलिस या तो निकम्मी है या भ्रष्ट है । चारों और अराजकता और चरित्रहीनता की व्याप्ति लक्षित होती है । इस प्रकार यह उपन्यास हमारे साम्प्रत यथार्थकी क्रूर पहचान हमें देता है ।

रामदरश मिश्रके "रातका सफर" (1976) की नायिका ऋतु गोरखपुर से बनारस यात्रा के दौरान जो चिंतन करती है, उसे उपन्यासका रूप दे दिया गया है । ऋतुका डॉक्टर पति उसकी उपेक्षा करता है । श्यामा नामक एक नर्सको अपने घरमें रखता है और ऋतु शिक्षिता (एम॰ ए॰) होते हुए भी उस घुटन और कुढ़न को पीती रहती है । विषम परिस्थितिमें वह धुल सकती है, विषमताको चुनौती नहीं दे सकती । इस प्रकार ऋतुमें संघर्षकी तपिश और स्वाभिमानका कुछ अभाव-सा दीखता है । एक और युग्म - मिसेज लीला और आबकारी इन्सपेक्टर के अवैध सम्बन्धोंको भी लेखकने इसमें बताया है ।

कमलेश्वरका उपन्यास "आगामी अतीत" (1976) आधुनिक युगकी इस यथार्थ स्थितिको रूपायित करता है कि आधुनिक मनुष्य भौतिकताकी स्पर्धा में सफल तो होता है पर अपनी आत्माको बेचकर । कथ्यकी दृष्टिसे वह "त्यागपत्र" के अधिक करीब है । "त्यागपत्र" के जस्टीस पी॰ दयाल और प्रस्तुत उपन्यास के कमल बोस एक ही प्रकार की व्यवस्थाके शिकार हैं । समाज द्वारा स्थापित वरीयताकी प्राप्ति-हेतु दोनों अपने वर्ग या अपनों से हटकर सामाजिक दृष्टिकी सफलतातो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु मृणाल और चन्दा के भविष्यकी आहुति देकर ही यह सम्भव हो पाता है और सफलताका नशा जब चूक जाता है तब सिवाय पश्चाताप और आत्मग्लानिके कुछ हाथ नहीं आता ।

निरूपमा सेवतीके उपन्यास "मेरा नरक अपना है" (1977) में वर्तमान अस्त-व्यस्त एवं संघर्षपूर्ण जीवन ही नरक है जहाँ मानसिक स्तर पर पति-पत्नी

में कोई मेल नहीं होता । विवाह-संस्थाकी व्यर्थता एवं आधुनिक जीवन की विसंगतियों को यहाँ लेखिकाने हरीन्द्रशीला एवं सुमित-अनिला के द्वारा रूपायित किया है ।

टोपी शुक्ला (1977) रज़ाका हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धोंको उसकी पूरी सच्चाई के साथ रखनेवाला उपन्यास है । टोपी शुक्ला ऐसे हिन्दुस्तानी नागरिकका प्रतीक है जो अपने को विशुद्ध भारतीय समझता है । हिन्दुओं में वह मुसलमानोंका हामी और मुसलमानों में हिन्दु है । ऐसे स्वजनों से उसे धृणा है जो स्वयं अनेक वेश्याओं से फँसे हुए हैं, पर उससे इसलिए धृणा करते हैं कि वह मुस्लिमोंकी कंपनीमें धूमता है । अन्तमें टोपी शुक्ला ऐसे ही लोगोंसे समझौता नहीं कर सकने के कारण आत्महत्या कर लेता है ।

कथाशिल्पी रेणुका अंतिम उपन्यास "पल्टू बाबू रोड" (1979) का अंचल वही है, किन्तु उसके लोग ग्रामीण नहीं, शुद्ध नागर तेवर के हैं । बिजली राय-परिवार की वयःप्राप्त अविवाहित कन्या है । परिवार के कर्ता-हर्ता पल्टूबाबू कॉन्ट्रावट और सप्लायका बिज़नेस करते हैं, जिसमें वे बिजलीका भरपूर प्रयोग करते हैं । कुन्तला और छवि भी ऐसी ही दो सुन्दरियाँ हैं । उपन्यासमें सारी प्रेम-लीलाओंका आधार आर्थिक है । इस प्रकार इसमें काम पीड़ित, कुंठित, भ्रष्ट, अर्थ-केन्द्रित गिरे समाजका चित्रण रेणुकी बेबाकशैली में हुआ है ।

कमलेश्वर के तीसरा आदमी (1964) के मुख पृष्ठ पर यह घोषित किया गया है कि -- "प्रेम अथवा प्रतिद्वन्द्विताके नाते तीसरा आदमी आदिकालसे स्त्री और पुरूष के बीच आता रहा है, लेकिन कमलेश्वरका तीसरा आदमी

आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज है । उपन्यासका नायक नरेश अपनी आर्थिक कठिनाइयोंके कारण अपने दूरके भाई सुमन्त के साथ दिल्ली में एक कमरेमें रहनेके लिए बाध्य हो जाता है । जहाँ महानगरका व्यक्ति इसके साथ समझदारी के साथ समझौता कर लेता है, वहाँ कस्बाई मनोवृत्ति का पुरूष इसमें कुछ हिचक का अनुभव करता है और उसीमें वह टूटने लगा है । संशयका भुजंग न केवल नरेश-चित्राके दाम्पत्यको डंसता है, बल्कि वह सुमंत के जीवनको भी डँस लेता है ।

शैलेश मटियानी कृत "छोटे छोटे पक्षी" §1977§ इलाहाबाद और दिल्ली के परिवेश पर आधारित उपन्यास है । इसमें लेखकने नायिका दीक्षा के द्वारा आजके नवयुवकोंके स्थूल, उच्छृंखल, शारीरिक, दायित्वहीन प्रेमके सतही स्वरूपकी निंदा की है । नायक सतीश पहले इसी दृष्टिसे दीक्षा की ओर आकृर्षित होता है, परन्तु दीक्षा उसे प्रेम के गंभीर दायित्व पूर्ण पक्षका परिचय करवाती है ।

गोविन्द मिश्र कृत "सफेद घोड़ा काला सवार" §1976§ हमारी न्याय-व्यवस्थाकी विसंगतियाँ एवं भ्रष्टाचारको रूपायित करनेवाला उपन्यास है । न्यायालयों में न्याय के नाम पर जो काली करतूतें होती है, उनका पर्दाफास प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है ।

रमाकान्त द्वारा लिखित उपन्यास "छोटे-छोटे महायुद्ध" §1977§ आधुनिक जीवन में व्याप्त सामाजिक विषमताको तिक्तताके साथ रूपायित करता है । लल्लनबाबू एक क्लर्क है । उनका पुत्र राजेन प्रतिभा संपन्न होते हुए भी अपनी आर्थिक विवशताओंके घेरोंमें कैद होकर एक मामूली क्लर्क बनकर अपने अरमानोंका गला घोंट देता है । राजेन के चित्रकी

त्रासदीको उभारनेके लिए लेखकने सुविधा संपन्न नेताओं के लम्पट पुत्रोंकी दास्तान भी प्रस्तुत की है । दोनोंको आमने-सामने करके स्थितिके वैषम्यकी विडंबनाको लेखक ने प्रत्यक्ष किया है ।

समसामयिक जीवनका तीखा व्यंग्य रमेशचन्द्र शाहके उपन्यास "गोबर गणेश" में मिलता है । ऊँची शिक्षा, कल्याण-राज्यकी उद्घोषणा और सारे आदर्शों के रहते हुए भी सामाजिक-आर्थिक प्रश्नों के धक्कों से होरी की भाँति ही उपन्यासका नायक विनायक टूट जाता है । "लौटती लहरोंकी बाँसुरी" के अशोक और "शहर में घूमता आईना" के चेतन की भाँति प्रस्तुत उपन्यास का नायक भी अपनी वर्गीय विवशताओंके कारण हीनता-बोध से ग्रस्त हो जीवन में बुरी तरहसे असफल रहता है । डॉ॰ विवेकी राय के शब्दों में "इस देशका गरीब आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, उठ नहीं सकता । इस वर्गके संस्कार, भाव, पारिवारिक परिवेश, सम्बन्ध और समग्र जीवन पर हीनत्व की वह सर्वग्रासिनी अभिशप्त छाया पड़ी रहती है कि उससे उबरना दुष्कर है । गरीबीको जीनेवाला चाहे किसान हो, चाहे व्यवसायी, सबकी नियति एक है । यहाँ उपन्यासकारने वर्ग-समस्या के नये आयामों को उद्घाटित किया है ।"[149]

योगेशकुमार का उपन्यास "टूटते-बिखरते लोग" §19 § आजके व्यावसायिक चरित्र एवं विज्ञापन बाज़ी को चित्रित करनेवाली उपन्यास है । इस वणिकवृत्ति ने सारे जीवन-मूल्यों का खात्मा बुला दिया है । यह व्यवसायी अमरीकी कल्चर मि॰ निकलसनके चरित्र में भलीभाँति उद्घाटित हुआ है -- "मैं इस अवसर पर यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आजकलकी दुनिया न तो मज़दूरोंकी दुनिया है और न मालिकोंकी -- यह दुनिया तो

केवल खरीदारों की मण्डी है । आज जब एक गर्भवती महिला किसी बच्चेको जन्म देती है, तो वह केवल एक बच्चे को जन्म नहीं देती, असलमें वह इस व्यापारकी मण्डीमें एक नया खरीदार पैदा करती है । हमारा यह फ़र्ज़ है कि इस नन्हे खरीदारके दिमाग में विज्ञापनों के माध्यम से कुछ ऐसे निशान छोड़ जाएँ, जिन्हें वह अपने यौवन-काल में उपयोग में लाकर अपनी स्थितिको बेहतर बना सके । मेरे दोस्तो, आपको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आजका बच्चा कलका खरीदार होता है ।"[150]

सुपरिचित कथाकार शैलेश मटियानी का "रामकली" (1978) नायिका-प्रधान उपन्यास है । रामकली का निर्धन पिता मरने से पहले उसका हाथ बसन्ता के हाथों में सौंप जाता है जो कुरूप और धनहीन ही नहीं, उम्रमें भी उससे बीस-बाइस साल बड़ा है । जवानी की अगनका अनुभव रामकलीको हरगुन पण्डित से होता है । इसके बाद वह कमला पहलवान और अमोलकचन्द ठेकेदार के घर बैठती है, पर वे उसे वेश्यासे अधिक नहीं समझते । अन्तत: वह फिर बसन्ताके पास चली आती है । अत: कहा जा सकता है कि यह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित उपन्यास है । "रेखा" में उच्च-वर्गको लिया गया था, यहाँ निम्न-वर्ग को लिया गया है ।

गिरिराज किशोर का "इन्द्र सुनें" (1979) फन्टासी शैलीमें पूंजीवादी व्यवस्थाके खिलाफ लिखा गया उपन्यास है । इसमें एक गाँव के "शहरीकरण" की प्रक्रिया की कथा है । सीधे-सादे भोले-भाले गाँववालों के ऊपर "सहराती" लोगोंके रहन-सहन, खान-पान, पोशाक, बातचीत आदिका

प्रभाव पड़ता है । परन्तु अन्तत: उन्हें अपने शोषण का पता चलता है और वे संघर्ष एवं विद्रोह के लिए तैयार होते हैं । उपन्यासके अंतमें "देवलोक" अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्थाका नाश होता दिखाया है ।

सूर्यकुमार जोशी के उपन्यास "सूर्यग्रहण" ﴾1979﴿ में हमारे समाजको लगे ग्रहणका चित्रांकन दर्दके साथ हुआ है । सूरजसिंह पेशे से वकील है । एक करोड़पतिकी बेटी गिरिजा से उसका विवाह होता है, परन्तु अपने आसपास के धृणित, गर्हित, भ्रष्ट, मूल्यहीन वातावरण से वह इतना दु:खी हो जाता है कि पहले नक्सलवादियों और बादमें डाकुओंके गिरोह में शामिल हो जाता है । एक स्थान पर वह कहता है -- "मुझे अपना व्यावसायिक जीवन, वकालतका अपना पेशा ऐसा लगा कि इतने दिनों से मैं गन्दे कूड़े के ढेरोंको कुरेदता रहा था और उनमें से गन्दी से गन्दी, सड़ीसे सड़ी-गली चीजें निकालकर दुनियाको बड़ी शान से दिखाता रहा था । क्या खूब है हमारे समाजकी न्याय प्रणाली जिसे एक सत्य के सम्पादन के लिए दो झूठोंका सहारा चाहिए ।"[15]

पृथ्वीराज मोंगाका "कांचका आदमी" ﴾1979﴿ दरिद्रता एवं परिवार-विघटनकी त्रासदीको रूपायित करनेवाला उपन्यास है । नायक सुरेश नीरा से प्रेमविवाह करके अपने भाई-बहन, माता-पिता से अलग तो हो जाता है, परन्तु अपने भावुक स्वभाव के कारण अन्तत: टूट जाता है । नायक की बड़ी बहन कमला धीर-गंभीर, सर्वहारा, सेवा परायण और विवेकपूर्ण है, किन्तु दरिद्रताके कारण उसका विवाह उसके पिता रामलाल नामक एक अयोग्य एवं अशिष्ट व्यक्ति से कर देते हैं । इस घटना से सुरेश बिखर जाता है । अपने पिताको खरी-खरी सुनानेवाले सुरेशको अपनी छोटी-बहिन मधु की

तेज-तर्रार बातें सुननेको मिलती है -- "जिन जवान बहिन के बेगैरेतभाई बहिनोंकी चिंता किए बगैर खुद स्वयंवर रचा लेते हैं, उनको क्या मिनिस्टर व्याहकर ले जायेंगे ? खुद चूल्लू भर पानी में डूब मरनेकी जगह तू पिताजी पर गरज रहा है । शर्म आनी चाहिए तुझे । तूकम गिरा हुआ आदमी है ? बता ?"[152]

हिन्दी के नये हस्ताक्षरों में सिद्ध हस्त ऐसे पानू खोलिया का उपन्यास "टूटे हुए सूर्य बिम्ब" (1980) सभी मध्यवर्गीय लोगोंकी कहानी है । नरेश और कौशल, क्रमश: हिन्दी और अंग्रेजी के प्राध्यापक हैं । बीवीतंत्रके शिकार होकर दोनों मध्यवर्गीय प्रदर्शन-वृत्तिमें अलग-अलग ढंगसे ऐसे जुतते कि उनका अपना व्यक्तित्व टूटकर बिखर जाता है । कौशल बाहरी शानो-शौकत को निभानेके लिए नोट्स लिखता है, तो नरेश घर, समाज बच्चोंको बनाने के लिए अपनेको खपा देता है । दोनों रात-दिन खटते हैं, पर अपने लिए कुछ नहीं कर सकते । अपने व्यक्तित्व और आत्माको मारकर वे ज़िन्दगी के इस जुएको ढोनेके लिए विवश हैं । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यासमें मानव-जीवनकी इस त्रासदीको अभिव्यक्ति मिली है कि आदमी जो नहीं है वह बनने के लिए अपनी निजता भी खो बैठता है ।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त नगरीय परिवेश के सन्दर्भ में निम्नलिखित उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं :- मोहन राकेशकृत "न आनेवाला कल" (19), यशपालकृत "मेरी तेरी उसकी बात" (1975) रज़ाकृत "कटराबी आर्जू" (1978), नरेन्द्र कोहली कृत "आतंक" (1972), शशिप्रभा शास्त्रीकृत "सीढ़ियाँ" (1977), निरूपमा सेवतीकृत "बँटता हुआ आदमी", मेहरून्निसा परवेज कृत "उसका घर" (1972), हिमांशु जोशी कृत "समय साक्षी है" (1977), रामदरश मिश्रकृत

"आकाशकी छत" §1979§, मनोहरश्याम जोशी कृत "कसप" §1980§, ममता कालियाकृत "प्रेमकहानी" §1980§, हृदयेशकृत "एक कहानी अंतहीन" §1971§, सूर्यबालासिंह कृत "मेरे संधिपत्र" §1976§ श्रवणकुमार गोस्वामी कृत "जंगल तंत्रम्" §1979§ कमलेश्वरकृत "समुद्र में खोया हुआ आदमी" और "वही बात" §1965, 1980§, मनहर चौहान कृत "जाल"§1976§, कन्हैयालाल ओझा कृत "तृतीय पुरुष" §1976§, भीष्मसाहनी कृत "बसन्ती" §1980§, गंगाप्रसाद मिश्रकृत "जहर चाँदका" §1976§ दीप्ति खंडेलवाल कृत "प्रिया" §1976§ निरूपमा सेवतीकृत "पतझड़की आवाजें" §1976§, प्रभाकर माचवे कृत "साँचा" §1977§ आदि आदि ।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं :-

:1: यथार्थधर्मी विधा होने के कारण उपन्यासका मानव-जीवनकी समस्याओंसे सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, परिणामत: उपन्यासके प्रारंभ से ही उपन्यासों में सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, प्रभृति समस्याओंका आकलन उपलब्ध होता है । प्रेमचन्द और प्रेमचन्द स्कूलके उपन्यासकारों में यह प्रवृति सविशेष पायी जाती है ।

:2: आलोच्य-काल §1960-80§ की युगीन चेतना में सर्वत्र एक मोहभंगकी छवि पायी जाती है । भौतिकवादी-वस्तुवादी चेतना, भ्रष्ट राजनीति का तमाम क्षेत्रों में प्रवेश, ग्राम एवं परिवारका विघटन, वैयक्तिक

स्वकेन्द्रित चेतना, आपविक परिवारोंका अस्तित्व, स्त्री-पुरुष के अहं की टकराहट, स्त्रियोंकी बौद्धिक-जागृति के कारण दाम्पत्य जीवनमें पड़नेवाली दरारें, बच्चोंकी त्रिशंकु-सी स्थिति, निम्नवर्गीय जीवनकी नारकीयता, मध्यवर्गीय जीवनकी प्रदर्शन प्रियता, उच्चवर्गीय जीवनका खोखलापन और व्यर्थता बोध प्रभृति कारणों से साम्प्रत मानव-जीवन छिन्न-भिन्न हो रहा है और यह छिन्न-भिन्नता उसे अमानवीय एकलताकी ओर ले जा रही है ।

:3: संत्रास, घुटन, पीड़ा, मोहभंग, गरीबी, बेकारी, शोषण, भ्रष्टाचार, बौद्धिक नपुंसकता, व्यर्थ-बकवादिता आदिसे जीवन की संभावना ही शनैः शनैः लुप्त प्राय हो रही है ।

:4: नगरीय परिवेश के उपन्यासों में मानव-जीवनकी लगभग तमाम समस्याओंका समावेश हो जाता है, यथा -- सामाजिक - पारिवारिक समस्याएँ, आर्थिक समस्याएँ, मनोवैज्ञानिक समस्याएँ, राजनीतिक समस्याएँ, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समस्याएँ ।

सं द र्भ

1 डॉ॰ महेन्द्र चतुर्वेदी : "हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण" : पृ॰ 20 ।

2 वही: पृ॰ 21 ।

3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "हिन्दी साहित्यका इतिहास" : पृ॰ 478 ।

4 विशेष विवरण के लिए देखिए : "हिन्दी उपन्यासका प्रारंभिक विकास" : डॉ॰ कुमारी शैलबाला : पृ॰ 138-139 ।

5 "हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा" पृ॰ 44 ।

6 डॉ॰ पारूकान्त देसाई : "युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबन्ध :" पृ॰ 15 ।

7 "सेवासदन" : पृ॰ 20 ।

8 वही: पृ॰ 24 ।

9 वही: पृ॰ 34 ।

10 वही: पृ॰ 192 ।

11 "हिन्दी उपन्यास साहित्यका अध्ययन" :पृ॰ 68 ।

12 "प्रेमचन्द और उनका युग" : पृ॰ 28 ।

13 डॉ॰ गणेशन : "हिन्दी उपन्यास साहित्यका अध्ययन" : पृ॰ 68 ।

14 डॉ॰ रामदरश मिश्र : "हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा" : पृ॰ 551 ।

15 अमृतराय : "कलमका सिपाही" : पृ॰ 652 ।

16 डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : "हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ" : पृ॰ 27 ।

HANSA MEHTA LIBRARY

17 "प्रेमचन्द और उनका युग" : पृ॰ 101 ।

18 डॉ॰ पारूकांत देसाई : "युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध" : पृ॰ 22 ।

19 "आजका हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 9-10 ।

20 "विचार और अनुभूति" : पृ॰ 134 ।

21 "हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा" : पृ॰ 132 ।

22 "उपन्यासकार अश्क" : सं॰ डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान : पृ॰ 80 ।

23 "हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य" : पृ॰ 92 ।

24 डॉ॰ त्रिभुवनसिंह : "हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद" : पृ॰ 556 ।

25 यही उपन्यास सन् 1960 में संशोधित होकर "सारा आकाश" नाम से प्रकाशित हुआ है ।

26 "मैला आंचल" भूमिका से ।

27 "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान" : पृ॰ 14 ।

28 जैनेन्द्रकुमार : "त्यागपत्र" : पृ॰ 62 ।

29 दृष्टव्य : "हिन्दी उपन्यास पर परश्चात्य प्रभाव" : पृ॰ 105 ।

30 "आत्मनेपद" : पृ॰ 75 ।

31 "अज्ञेय का कथा-साहित्य" : पृ॰ 50 ।

32 "अज्ञेय : एक अध्ययन" : पृ॰ 188 ।

33 "शेखर एक जीवनी" : भूमिकासे ।

34 "नदी के द्वीप" : अग्र भाग से ।

35 "अज्ञेय : एक अध्ययन" : पृ॰ 299 ।

36 दष्टव्य : "औपन्यासिक समीक्षा एवं समीक्षाएँ" : डॉ॰ आदित्यप्रसाद त्रिपाठी : पृ॰ 195-197 ।

37 "आधुनिक हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 215-216 ।

38 "सारा आकाश" : पृ॰ 208 ।

39 वही : पृ॰ 306 ।

40 "हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा" : पृ॰ 127-128 ।

41 "अजय की डायरी" : पृ॰ 256 ।

42 वही : पृ॰ 264 ।

43 दष्टव्य: सम्मेलन पत्रिका : साहित्य-संस्कृति-भाषा विशेषांक: चैत-मार्गशीर्ष, शक 1894 ।

44 "हिन्दी उपन्यास - पहचान और परख" सं॰ इन्द्रनाथ मदान : पृ॰ 225 ।

45 "अँधेरे बन्द कमरे" : पृ॰ 345 ।

46 "आधार" : सातवाँ दशक मूल्यांकन विशेषांक - फरवरी-मई, 1971 : पृ॰ 60 ।

47 "अपने अपने अजनबी" : पृ॰ 53-54 ।

48 "पचपन खम्भेलाल दीवारें" : पृ॰ 109-110 ।

49 "आलोचना-35" जनवरी-1966 : पृ॰ 162 ।

50 "शहरमें घूमता आईना" : समर्पण ।

51 "People whose sexual urges are directed principally towards persons of their own sex are called homosexual and their interest is called homosexuality, both terms being derived from the Greek words homo (Meaning same) and sex". An ABZ of Love : p. 162-163.

52 "शहर में घूमता आईना" : पृ. 408 ।

53 "हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद" : पृ. 523 ।

54 "अनदेखे अनजान पुल" : पृ. 28 ।

55 वही: पृ. 125 ।

56 वही: पृ. 118 ।

57 वही: पृ. 145 ।

58 "कथा-सूर्य की नयी यात्रा" : पृ. 30 ।

59 "रेखा" : पृ. 193 ।

60 "लौटती लहरों की बांसुरी" : पृ. 74 ।

61 दृष्टव्य: "मैं सिर्फ चाहती हूँ कि दूसरे को बाद में पछतावा न हो ..... दैन इट इज़ मिजरी ।" - रायना : "वे दिन" : पृ. 209 ।

62 "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ. 149 ।

63 "वे दिन" : पृ. 211 ।

64 "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 151 ।

65 "एक कटी हुई जिन्दगी - एक कटा हुआ कागज" : "दोशब्द" से

66 "हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास" पृ. 249 ।

67 "अठारह सूरज के पौधे" : पृ. 28 ।

68 वही : पृ. 118 ।

69 "हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास" : पृ. 250 ।

70 "बैसाखियोंवाली इमारते" : पृ. 20 ।

71 वही: पृ. 2 ।

72 वही: पृ॰ 24 ।

73 वही: पृ॰ 31 ।

74 वही: पृ॰ 103 ।

75 वही: पृ॰ 64 ।

76 See, An ABZ of Love : p. 214.

77 "हिन्दी उपन्यास : सृजन और प्रक्रिया" : डॉ॰ शिवबहादुरसिंह भदौरिया : पृ॰ 206 ।

78 "मछली मरी हुई" : पृ॰ 41 ।

79 दृष्टव्य: "तीस - पैंतीस साल पहले की बात । वह सोचता है --" उसकी माँ लौटकर उसके पास आ जाय । रहने के लिए एक घर माँगे ।" : "मछली मरी हुई" : पृ॰ 40 ।

80 "मछली मरी हुई" : पृ॰ 68 ।

81 वही: पृ॰ 109-110 ।

82 See, "The sex - Life File" Frigidity and Impotence : pp. 155-185.

83 "नही पाया, मैं जाना चाहती हूँ । मनीश .....मेरे एक बन्धु ... .वह बात बीच में छोड़ रुक गयी ।" : रुकोगी नहीं ...... राधिका" : पृ॰ 152 ।

84 "आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 83 ।

85 "हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ" : पृ॰ 125-128 ।

86 डॉ॰ पारूकान्त देसाई : "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ॰ 134 ।

87 "एक पति के नोट्स" : पृ॰ 5 ।

88 "मुंह खोलकर राल टपकाते कुत्ते की तरह दुम हिलाते पीछे लगे रहना । वो भी दिन थे ।" : "एक पतिके नोट्स" : पृ॰ 7 ।

89 "आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 82 ।

90 (अ) "तुम-सा मर्द भी किसी के पल्ले न पड़े । पकड़ के चटनी बना देते हो" : एक पतिके नोट्स : पृ॰ 7 ।

(ब) वह शायद शाम की बात पर नहीं, जबरदस्ती कखाने के लिए तनी थी । उसे यह कभी-कभी पसन्द था । "उसके" दौरान मैं यही सोचता रहा ।" : "एक पतिके नोट्स" : पृ॰ 30 ।

91 वही : पृ॰ 77 ।

92 वही : पृ॰ 56 ।

93 "मैं भी उन्हीं में से हूँ । न अच्छा हूँ, न बुरा हूँ मामूली हूँ । सब मामूली हैं । जो मामूली नहीं है वे अजूबे हैं, हिसाब के बाहर हैं ।" : "एक पतिके नोट्स" : पृ॰ 79 ।

94 दृष्टव्य: वही : पृ॰ 100-103 ।

95 "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" : आमुख से ।

96 वही : आमुख ।

97 वही : पृ॰ 100 ।

98 वही : पृ॰ 100-101 ।

99 "मेरा हमदम मेरा दोस्त" : पृ॰ 42 ।

100 जिस समय का यह उपन्यास है, उसमें पन्द्रह हज़ार रूपये भी कुछ मायना रखते थे ।

101 "डाक बंगला" : पृ॰ 116 ।

102 दष्टव्य: "कृष्णकली" : भूमिका ।

103 "कड़ियाँ" : पृ. 166 ।

104 "संचेतना" : समकालीन उपन्यास अंक : दिसम्बर, 1971 : पृ. 63 ।

105 "आपका बण्टी" : पृ. 31-32 ।

106 Concise Oxford Dictionary : Reprinted Fifth Edition : 1972 : pp. 1337-277

107 "टेराकोटा" : पृ. 8 ।

108 डॉ. विवेकीराय : प्रकर, संयुक्त विशेषांक, मई-जून : पृ. 43 ।

109 "सूरजमुखी अँधेरे के" : पृ. 125 ।

110 डॉ. कुँवरपालसिंह : "हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना" पृ. 206 ।

111 There are - and have been in course of time - many peculiar ideas attached to maiden heads and their deflowering. When deflowering takes place, there is usually a little bleeding because a slight break occurs in the mucous membrane. xx In certain peoples the custom has existed of displaying the bridal sheet duly stained with blood after the bridal night as proof that the bride has not had sexual inter course before."

'An ABZ of Love' : pp. 222-223.

112 "प्रश्न और मरीचिका" : पृ. 39-40 ।

113 वही : पृ. 246 ।

114 वही : पृ. 382 ।

115 "तमस" : पृ॰ 147 ।

116 वही : पृ॰ 122 ।

117 "आधुनिक हिन्दी उपन्यास" : सं॰ भीष्म साहनी : पृ॰ 465 ।

118 "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 163 - 164 ।

119 "छाया मत छूना मन" : पृ॰ 20 ।

120 वही : पृ॰ 6 ।

121 "नंगाशहर" : पृ॰ 7 ।

122 वही : पृ॰ 32 ।

123 वही : पृ॰ 100 ।

124 वही : पृ॰ 83 ।

125 कोहरे : पृ॰ 5 ।

126 वही : पृ॰ 95 ।

127 कोरजा : पृ॰ 292 ।

128 वही : पृ॰ 15 ।

129 वही : पृ॰ 91-92 ।

130 "Emancipation : Used particularly in connection with female emancipation, by which we understand the fight to liberate woman from her dependence upon man" : An ABZ of Love : P. 107.

131 डॉ॰ आदित्यप्रसाद त्रिपाठी : "औपन्यासिक समीक्षा एवं समीक्षाएँ" : पृ॰ 73 ।

132 द्रष्टव्य: समकालीन हिन्दी उपन्यास : सं॰ ललितकुमार शर्मा "ललित" : पृ॰ 103-107 ।

133 डॉ॰ यश गुलाटी : प्रकर - अक्तूबर - 1980 : पृ॰ 19 ।

134 "चितकोबरा" : पृ॰ 102 ।

135 वही : पृ॰ 110 ।

136 डॉ॰ यशगुलाटी : प्रकर - अक्तूबर - 1980 : पृ॰ 20 ।

137 "कुरू - कुरू - स्वाहा" : प्रकाशकीय वक्तव्य से ।

138 "अलग - अलग वैतरणी" : पृ॰ 685 ।

139 **'See, Seminar on Creative Writing in Indian Languages' : P. 47 : 1972**

140 डॉ॰ रामदरश मिश्र : आजका हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि : पृ॰ 122 ।

141 "हिन्दी उपन्यास : उत्तरशतीकी उपलब्धियाँ" : पृ॰ 181 ।

142 "साँप और सीढ़ी" : पृ॰ 24 ।

143 दूर्वादिल {त्रैमासिक} : अंक-5 : मई=जुलाई : 1983 ।

144 "अंतराल" : पृ॰ 213 ।

145 डॉ॰ कुँवरपालसिंह : "हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना" : पृ॰ 205 ।

146 "विवेक के रंग" : सं॰ डॉ॰ देवीशंकर अवस्थी : पृ॰ 302 ।

147 "हिन्दी उपन्यास" : सामाजिक चेतना" :पृ॰ 203 ।

148 "व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न" : पृ॰ 32 ।

149 "हिन्दी उपन्यास : उत्तरशतीकी उपलब्धियाँ" : पृ॰ 206 ।

150 "टूटते - बिखरते लोग" : पृ॰ 141 ।

151 "सूर्य-ग्रहण" : पृ॰ 141 ।

152 "कांचका आदमी" : पृ॰ 43 ।

. . . . .